

गीतामूलविज्ञानभाष्यम्

ऐतिहासिकोऽध्यायः

पं० मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन

केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर

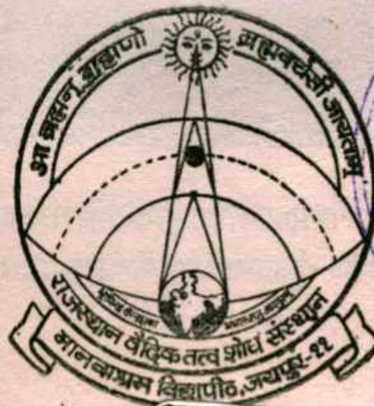


गीतामूलविज्ञानभाष्यम्

ऐतिहासिकोऽध्यायः

पं० मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः





प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।



ग्रन्थ-प्राप्ति
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



मुद्रक :
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



विद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनझामहाभागाः (वार्द्धक्ये)
स्वशिष्य–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यकर्तृ–श्रीमोतीलालशास्त्रिसहितः

ग्रन्थ-परिचय

"इति-ह-आस" (ऐसा ही था) इस निर्वचन के अनुसार अतीत मानव-चरित्र का **'इदमित्थमेव'** (यह ऐसा ही था) इस रूप से प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ ही **'इतिहास'** कहलाता है ।

जो महायुद्ध भारतश्री के सर्वनाश का कारण बना था, उस युद्ध की घटनाओं का (वंशारम्भ से अन्त तक का) व्यासजी ने जिस ग्रन्थ में निरूपण किया है, वही ग्रन्थ महाभारत नाम से प्रसिद्ध है । यह ग्रन्थ–**'इति-ह-आस'** इस मर्य्यादा से युक्त है, अतः इसे हम अवश्य ही इतिहास शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं ।

गीताशास्त्र के सम्बन्ध में गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों हुई ? कब हुई ? कहाँ हुई ? किसके प्रति हुई ? इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं । साथ ही में गीता महाभारत का ही एक प्रत्यंश है । ऐसी दशा में गीता को ऐतिहासिक मर्य्यादा से पृथक् नहीं किया जा सकता । इसलिए गीता में मूलविषय के अतिरिक्त ऐतिहासिक-सन्दर्भ का प्रतिपादन करने वाले ६४ श्लोकों का व्यासजी द्वारा समावेश हुआ है । इसी आधार पर स्व० पं० मधुसूदन ओझाजी ने ७०० श्लोकात्मक गीता के दो मुख्य विभाग किए हैं । ६४ श्लोकात्मिका गीता को **'ऐतिहासिक गीता'** नाम से एवं ६३६ श्लोकात्मिका गीता को 'विज्ञानगीता' नाम से व्यवहृत किया है । ओझाजी ने ६४ श्लोकों में से प्रथमाध्याय के १ से ४६ तक के श्लोक (१।४५ को छोड़कर) तो ऐतिहासिकोऽध्यायः में एवं २।४ से २।१० पर्यन्त २।३१ से २।३७ पर्यन्त तक के श्लोक ऐतिह्य माने हैं । शेष पाँच श्लोक १।४५, १।४७ एवं २।१ से २।३ तक के श्लोक चातुर्विद्योपक्रम में समाहित किये हैं । इस प्रकार ४५ + ७ + ७ + ५ सम्भूय ६४ श्लोक हो जाते हैं ।

इतिहास-मर्य्यादा का क्लेशात्मक विश्व के साथ सम्बन्ध है, एवं उच्चावच सांसारिक-भावों की उपेक्षा करते हुए सदा एक रहना, यही विज्ञानभाव है, यही आत्मविभूति है । अर्थात् गीताशास्त्र जहाँ इतिहास-भावमय विश्व का निरूपण करता है, वहीं विज्ञान-भावमय आत्मा का भी रहस्योद्घाटन करता है । इन्हीं दोनों भावों का विवेक (छांट) करते हुए स्व० पं० मोतीलाल शास्त्रीजी ने हिन्दी में स्वतन्त्र भाष्य लिखे हैं ।

स्व० शास्त्रीजी ने 'धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इत्यादि रूप से प्रारम्भ ६४ श्लोकात्मक **'ऐतिहासिकोऽध्यायः'** नामक उक्त ग्रन्थ में ऐतिह्य मर्य्यादा का आश्रय लेते हुए विश्व-अशान्ति का एवं सहजसिद्ध शोक का निरूपण किया है ।

गीता–द्वितीय–अध्याय के संख्या ४ से १० तक के श्लोक भी यद्यपि ऐतिह्य ही माने गए हैं परन्तु स्व० शास्त्रीजी ने अध्याय-सम्बन्ध के कारण इन्हें ऐतिहासिकोऽध्यायः (गीता-प्रथम अध्याय) में न रख कर राजर्षिविद्या प्रथमोपनिषत् के पूर्व में चातुर्विद्योपक्रमः (शोकसमुत्थानोपनिषत्)के अन्तर्गत रखा है । इस ऐतिहासिकोऽध्यायः के बाद ही विज्ञानगीता का प्रारम्भ होता है ।

—सम्पादक

प्रकाशकीय

गीता में आये हुए ऐतिहासिक सन्दर्भों के विषय में उनके भिन्न-भिन्न पक्षों का विवेचन करते हुए पं० मोतीलाल शास्त्रीजी ने एक स्वतन्त्र निबन्ध 'ऐतिहासिकोऽध्यायः' लिख दिया है, जिसका प्रकाशन करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। गीता हमारा प्रमाणशास्त्र है और प्रस्थानत्रयी का अंगभूत ग्रन्थ है। इसमें आये हुए ऐतिहासिक प्रसंगों को हम प्रमाण मानते हैं। कुरुक्षेत्र-पुष्कर-वाराणसी इत्यादि तीर्थों में लक्षावधि भारतवासी स्नान करके अपने जीवन को कृतार्थ करते हैं। इन तीर्थों का तात्त्विक स्वरूप क्या है ? इस लघु निबन्ध को पढ कर समझा जा सकता है।

कौरव-पाण्डव योद्धाओं के चरितों को भी शास्त्रीजी ने एक नई पृष्ठभूमि प्रदान की है। यद्यपि यह पृष्ठभूमि सर्वथा प्राचीन है, परन्तु काल-प्रभाव से हमारे ज्ञान में इसका लोप हो गया। शास्त्रीजी ने इसकी पुनः स्थापना की और हमारा कल्याण किया है।

इस सन्दर्भ में कुरुक्षेत्र के आधिदैविक-स्वर्गस्थानीय एवं भारवर्षीय स्वरूपों का विवेचन करते हुए कदम्ब का क्रान्तिवृत्त के साथ सम्बन्ध, नाक-स्थान का स्वरूप, स्कम्भ का स्वरूप, नवाहयज्ञ, आतानयज्ञ, स्वाहायज्ञ, श्वेतदीप, सरस्वती नदी, लुप्तासरस्वती, ब्रह्मतीर्थ, अङ्गिरा-आश्रम आदि विषयों की भी स्वरूप व्याख्या की है।

गीता के पाठकों को यह निबन्ध एक नया प्रकाश देगा, ऐसी आशा करता हूँ।

—**कर्पूरचन्द 'कुलिश'**

मकरसंक्रान्ति
व० स० २०४८



ओं नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो–
वंशऋषिभ्यो नमो गुरुगणेशाम्बिकेभ्यः ।

१–प्रणम्य भगवत्पादान् श्रीमधुसूदनसद्गुरुम् ।
विज्ञानभित्तिमवलम्ब्य गीताभाष्यं समारभे ॥

२–ज्ञानयोगप्रधानेदं शास्त्रं केचिद्विदुर्बुधाः ।
कर्म्मयोगप्रधानं तच्चान्ये प्राहुर्मनीषिणः ॥

३–भक्तियोगप्रधानेयं गीतेति तदपरं मतम् ।
कर्म्मोपास्तिज्ञानकाण्डत्रितयात्मेति चापरे ॥

४–वयं तु ब्रूमो गीतायां बुद्धियोगो निरूपितः ।
यस्य सम्यक् परिज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ॥

५–भारते सर्ववेदानां रहस्यार्थो निरूपितः ।
ते च सर्वे रहस्यार्था गीतायां प्रतिपादिताः ॥

६–गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपङ्काद्विनिःसृता ॥

❀❀

अथ

गीताविज्ञानभाष्यम्

ऐतिहासिकोऽध्यायः

१–ऐतिहासिकप्रसङ्ग—

(चातुर्विद्योपदेश के उपक्रम में प्रकरण-सङ्गति के लिए–ऐतिहासिक घटना का उल्लेख–)

धृष्टराष्ट्र उवाच—

१–(१)

१–धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ।।[1]

[मूलानुवाद]–धृतराष्ट्र बोले–"हे सञ्जय ! धर्म्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से–सम्मिलित मेरे और पाण्डुपुत्रों ने क्या किया" ।

[**भाष्य**]—एक बहुत पुरानी कहानी है । हम अपने आप्त पुरुषों से सुनते आ रहे हैं कि आज से लगभग ५ सहस्र वर्ष पहिले एक साधारण-सी बात पर दो बन्धुओं में मनमुटाव पैदा हो गया । वह बात थी थोड़ी सी जमीन की । पाण्डुराज के पुत्र पाण्डव चाहते थे कि हमें न्यायप्राप्त हमारा अधिकार दे दिया जाय, उधर धृतराष्ट्रपुत्र कौरव कहते थे, "**वीरभोग्या वसुन्धरा**" । हमने अपने बाहुबल से यह विशाल भूखण्ड प्रा त किया है । बिना युद्ध के हम सूई जितनी जमीन भी देने के लिए तय्यार नहीं है । इसी

---

१ गीता १।१ ।

आपस की तानाजनी से बात बहुत आगे बढ़ गई । सुनते हैं, भगवान् कृष्ण ने शान्ति के लिए बहुत चेष्टा की । परन्तु परिणाम कुछ न निकला । जो होना था, वही होकर रहा । दोनों बन्धुओं के पक्षपाती अपनी-अपनी सेना लेकर उसी एक जमीन के टुकड़े के लिए अपने प्राणों को हथेली में रखकर उस सुप्रसिद्ध कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि में आ डटे । **"युद्ध का क्या परिणाम होगा"** यह जिज्ञासा उस व्यक्ति के हृदय में विशेष रूप से जागृत रहती है, जो स्वयं तटस्थ रहता हुआ भी युद्ध का बीजारोपण करता है । कौरववंश के सर्वेसर्वा इतिहासप्रसिद्ध वृद्ध धृतराष्ट्र उन्हीं व्यक्तियों में से एक थे । इन्हीं के अन्धे पुत्रमोह ने दो बन्धुओं को सर्वनाश के लिए प्रेरित किया । इन्हीं की अन्तरंग कामना से कौरव पाण्डव द्यूतक्रीड़ा में प्रवृत्त होते हुए—परस्पर में दृढतम वैरसूत्र वितत करने के कारण बने । यही प्रज्ञाचक्षू अपनी ममता के वश एक ही कुरुवंश के कौरव-पाण्डव भेद से दो भागों में विभक्त होने के मूलकारण बने । पुत्रमोह ने इस वृद्ध पुरुष को सचमुच अन्धा बना दिया । जबकि महाभारतसमर के अन्तः प्रवर्त्तक यही थे तो युद्ध के फलाफल की जिज्ञासा औरों की अपेक्षा इन्हीं में अधिक होनी चाहिए थी । यही बात सूचित करने के लिए इतिहासप्रसिद्ध युद्ध की आरम्भ की भूमिका में व्यासदेव को—**"धृतराष्ट्र उवाच"** यह कहना पड़ा है । कुरु-राष्ट्र का सारा भार इन्हीं पर था । राष्ट्र के हानि-लाभ के जिम्मेदार यही थे । भला राष्ट्र को धारण करने वाले धृतराष्ट्र के अतिरिक्त और किसे युद्ध के भावी परिणाम की विशेष चिन्ता हो सकती थी ? इसी चिन्ता से क्षुब्ध बने हुए धृतराष्ट्र व्यासदेव की कृपा से दिव्यदृष्टि प्राप्त, युद्ध-वर्णन के लिए व्यासदेव की ओर से नियत सञ्जय से पूछने लगे कि बतलाओ सञ्जय युद्ध की इच्छा से समवेत मेरे और पाण्डुपुत्रों ने क्या किया ?

इस प्रश्न के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि "जब धृतराष्ट्र की अन्तःप्रेरणा से ही कौरव युद्ध में प्रवृत्त हुए थे, जब वे पहिले से ही यह जानते थे कि कुरुक्षेत्र में जाकर ये युद्ध करेंगे तो फिर जानते हुए भी धृतराष्ट्र ने—**"किमकुर्वत"** ? ये प्रश्न क्यों किया ?" सामान्य दृष्टि से विचार करने पर **"किमकुर्वत"** का यही अभिप्राय युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि "धृतराष्ट्र ने सञ्जय से पूछा कि मोर्चाबन्दी होने के बाद युद्ध कैसे आरम्भ हुआ, किसकी ओर से प्रहार आरम्भ हुआ, किसमें कितनी उत्तेजना थी, किस वीर में कितना उत्साह था ? कौरव सेनापति भीष्म का कैसा रुख था" ? राजनीतिज्ञ धृतराष्ट इन परिस्थितियों को जानना इसलिए

आवश्यक समझते थे कि युद्ध को इन्हीं परिस्थितियों के आधार पर जय-पराजय का अनुमान लगाया जाता है। यदि अन्तर्दृष्टि से विचार किया जाता है तो उक्त प्रश्न के सम्बन्ध में हम निर्णय पर पहुँचते हैं कि **"किमकुर्वत"** ये अक्षर क्षोभ के सूचक हैं। यही क्षोभ कौरवों के पराजय का द्योतक है। जिसे अपने बल पर पूरा भरोसा रहता है, साथ ही में जो न्यायप्राप्त अधिकार की प्राप्ति के लिए धर्म्मबुद्धि से प्रेरित होकर धर्म्मयुद्ध में प्रवृत्त होता है, उस धार्मिक के हृदय में कभी—**"क्या हुआ, क्या किया, क्या होगा"** ऐसे संदिग्ध भावों को आश्रय नहीं मिलता। उसका तो एक-मात्र— **"यदि जीत गए तो न्यायप्राप्त सत्त्व का उपभोग करेंगे, मारे गए तो अभ्युदय के अधिकारी बनेंगे"** यही लक्ष्य रहता है। राष्ट्र के कर्णधार धृतराष्ट्र की परिस्थिति कुछ और ही थी। वे जानते थे कि मेरे पुत्र धर्म्म-दृष्टि से युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो रहे। वे अधर्म्म से राज्य पर प्रभुत्व जमाए रखना चाहते हैं। धृतराष्ट्र यह भी जानते थे कि कुरुक्षेत्र एक धर्म्मभूमि है, पवित्र भूमि है, देवभूमि है। इस भूमि में धार्म्मिक योद्धाओं को ही विजयश्री मिल सकती है। बस इन्हीं सब कारणों से धृतराष्ट्र का हृदय भावी परिणाम से क्षुब्ध था। क्षुब्ध मनुष्य के मुख से ही—**"अरे बतलाओ क्या किया, क्या होगा, कौन जीतेगा"** ऐसे अक्षर निकला करते हैं। साथ ही में यह भी निश्चित बात है कि जिसके हृदय में आरम्भ से ही ऐसा क्षोभ खड़ा हो जाता है, वह कभी विजयश्री लाभ नहीं कर सकता। उसकी पराजय अवश्यम्भावी है। इसी पराजय को सूचित करने के लिए व्यास ने धृतराष्ट्र के मुख से **"किमकुर्वत"** ये अक्षर कहलवाए हैं। यह युद्धभूमि धर्म्मक्षेत्र है, यहाँ धर्म्मात्मा की विजय होगी। पापात्मा कौरवों का क्षय होगा। यही सूचित करने के लिए **"कुरुक्षेत्रे"** के साथ **"धर्म्मक्षेत्रे"** का सम्बन्ध किया है।

धृतराष्ट्र बुद्धिमान् थे, विद्वान् थे, वृद्ध थे, सबके पूज्य थे। फिर उनमें यह अविद्या आई कैसे? उन्होंने सब कुछ जानते हुए, देखते हुए भी कौरवों को इस अधर्म्मयुद्ध के लिए अनुमति कैसे देदी? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए व्यास को **"मामकाः-पाण्डुपुत्राश्च"** यह कहना पड़ा। कलह का मूलसूत्र—**"यह मेरा, यह तेरा"** यही वाक्य है। ममत्व ही वैभव के नाश का कारण है। हम सांसारिक विषयों के साथ, पुत्र कलत्रादि के साथ जितनी ममता बढ़ाते जायेंगे, उतने ही अधिक पङ्क में फँसते जायेंगे। साथ ही में हमारी दृष्टि भी उतनी ही अधिक संकुचित होती जायगी। यही संकोच नानाभाव (पृथक्त्व) का जनक बनता हुआ

हमारे आत्मा को मृत्युभाव से आवृत बना देगा। बुद्धि मलिन हो जायगी, कर्त्तव्याकर्त्तव्य जाता रहेगा, सात्त्विक भावना उत्क्रान्त हो जायगी, अशान्ति का उदय हो जायगा, आत्मसुख से सर्वथा वञ्चित हो जायेंगे। इसी प्रकार ममता, आसक्ति ही हमारे सर्वनाश का कारण बन जायगी। धृतराष्ट्र की बुद्धि का व्यामोह इसी ममता ने किया। उसे अपने पुत्रों के प्रति राग उत्पन्न हुआ, इस राग की कृपा से पाण्डुपुत्रों के प्रति द्वेष उत्पन्न हुआ। इसी रागद्वेषजनित आसक्ति ने युद्ध का बीजारोपण किया। यदि यह समझते कि पाण्डव भी मेरे ही हैं, एक ही सूत्र के दो धागे हैं, तो कभी युद्ध का अवसर न आता। यदि यह यह समझते कि न्यायत: दोनों ही कुरुसाम्राज्य के भोक्ता हैं तो कभी कलह का उदय न होता, परन्तु जब इनके हृदय में—**"ये मेरे हैं, ये पराए हैं"** यह प्रतिद्वन्द्वीभाव उत्पन्न हुआ तो ऐसी परिस्थिति में द्वन्द्व (युद्ध) होना अनिवार्य था। यही ममता, युद्धानुमति प्रदान कारण बनी। साथ ही में इसी ममता ने धृतराष्ट्र के हृदय में **"किमकुर्वत"** इत्यादिलक्षण क्षोभ उत्पन्न किया। यही क्षोभ कौरवों के पराजय का कारण बना।

अपिच गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है—**वैराग्यबुद्धियोग**, जैसा-कि भूमिका में विस्तार से बतलाया जा चुका है। रागद्वेष आसक्ति के, ममत्व के जनक हैं। इन्हें छोड़कर, ममत्वरहित होकर सर्वत्र समभाव रखते हुए यथाधिकारसिद्धकर्म्म करते रहना ही बुद्धियोग का रहस्य है। ममता-नाशक इसी वैराग्य बुद्धियोग का गीता में अथ से इति तक निरूपण हुआ है। दूसरे शब्दों में गीता ममता छोडने का आदेश देती है, जो ममता नहीं छोडते उनका नाश बतलाती है—**"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतस:"**। इसी विषयरहस्य को संकेतविधया प्रकट करने के लिए गीता के आरम्भ में ही "मामका:" शब्द का प्रयोग करते हुए व्यास ने बतलाया है कि ममतावश युद्ध आरम्भ हुआ, ममतावश कौरवों का पराजय हुआ, बुद्धियोगानुयायी निर्म्मम पाण्डवों का विजययुद्ध हुआ।

संसार क्या है? यदि इस प्रश्न पर पाठक विचार करेंगे तो उन्हें सर्वत्र **भग-क्लेश**—इन दो प्रतिद्वन्द्वी भावों के ही दर्शन होंगे। कभी कोई सुखी है तो कोई दु:खी है। कोई रोता है तो कोई हँसता है। कोई मरता है तो कोई जन्म लेता है। एक ही व्यक्ति कभी सुखी है, कभी दु:खी है। कभी रोगी है, कभी स्वस्थ है इस प्रकार इस द्विनियतिरूप दुनिया में सदा

सर्वत्र सब में दो विरुद्धभावों का उच्चावच परिवर्तन ही दृष्टिगोचर होता है। संसार भगरूप आनन्द का भी क्षेत्र है, क्लेशरूप किंवा क्लेशजनित दुःख का भी क्षेत्र है। अमृत और मृत्यु का एक ही स्थान में समन्वय हो रहा है। लीलाधर की लीला के यही प्रत्यक्ष दर्शन हैं। दो प्रतिद्वन्द्वीभावों के कारण एक ही विश्वक्षेत्र **धर्म्मक्षेत्र** एवं **कुरुक्षेत्र** भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। धर्म्मक्षेत्र **भगक्षेत्र** है, कुरुक्षेत्र **क्लेशक्षेत्र** है। आत्मा अमृतप्रधान है, विश्व मृत्युप्रधान है। दोनों की समष्टि ही "अहं" शब्द से अभिनीत ईश्वर-प्रजापति है—"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"। आत्मानुयायी धर्म्म-क्षेत्ररूप आत्मा का पक्षपाती है, विश्वानुयायी कुरुक्षेत्ररूप विश्ववैभव का पक्षपाती है। "कुरु" शब्द कर्म्म का सूचक है, धर्म्मशब्द अतीन्द्रिय ब्रह्म का द्योतक है। ब्रह्म-कर्म्म दोनों अविनाभूत हैं। कर्म्मगर्भितब्रह्म का ही नाम ब्रह्म है, यही आत्मा है। ब्रह्मगर्भित कर्म्म ही कर्म्म है, यही विश्व है। इस प्रकार आत्मा एवं विश्व दोनों संस्थाओं में ब्रह्म-कर्म्म (अमृत-मृत्यु) दोनों तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। "क्षेत्र" शब्द इसी रहस्य को प्रकट करता है। "क्षे" का अर्थ है "क्षयस्थान" "त्र" का अर्थ है "त्राणस्थान"। क्षय-स्थान ही मृत्युस्थान है, भयस्थान है, बन्धस्थान है। त्राणस्थान ही अमृत-स्थान है, अभयस्थान है, मुक्तिस्थान है। धर्म्मक्षेत्र भी अमृतमृत्यु (क्षे–त्र) दोनों का समन्वय है, कुरुक्षेत्र में भी दोनों का समन्वय है। धर्म्म-क्षेत्र ज्ञानक्षेत्र है, कुरुक्षेत्र कर्म्मक्षेत्र है। ज्ञानक्षेत्र ही ज्ञानयोग है, कर्म्मक्षेत्र ही कर्म्मयोग है। यदि ज्ञानयोग का अर्थ सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण सन्यास अर्थ समझा जाता है, दूसरे शब्दों में, ज्ञानयोग को विशुद्ध ज्ञानमय समझा जाता है तो भ्रान्ति है। इसी प्रकार कर्म्मयोग का अर्थ आसक्तिपूर्वक कर्म्मपरिग्रह समझा जाता है तो भ्रान्ति है। ज्ञानयोग वही श्रेष्ठ है, जिसमें कर्म्म का ग्रहण एवं कामना का परित्याग है। कर्म्मयोग वही श्रेष्ठ है, जिसमें प्रवृत्ति का, फलेच्छा का परित्याग एवं निष्कामकर्म्म का ग्रहण है। यही तो बुद्धियोग है। यही तो गीता ग्रन्थ का निष्कर्ष है। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिए व्यास ने दोनों को क्षेत्रशब्द से व्यवहृत किया है। क्षयस्थान कर्म्मस्थान है, त्राणस्थान ज्ञानस्थान है। दोनों की समष्टि धर्म्म-क्षेत्र किंवा ज्ञानक्षेत्र (ज्ञानयोग) है। इसी प्रकार दोनों को समष्टि ही कुरुक्षेत्र किंवा कर्म्मक्षेत्र (कर्म्मयोग) है। लोक में सर्वसाधारण में यहां दोनों निष्ठाएं प्रचलित हैं। भगवान् कहते हैं कि दोनों को दो समझना ही युद्ध का कारण है, क्लेश की आवास भूमि है। तुम दोनों को एक समझो।

इसी उभयनिष्ठ बुद्धियोगनिष्ठा को व्यक्त करने के लिए व्यास ने धर्म्मक्षेत्रे को कर्म्मक्षेत्रे का विशेषण बनाते हुए गीता के प्रतिपाद्य विषय का **"धर्म्मक्षेत्रे–कुरुक्षेत्रे"** इस एक ही वाक्य में स्पष्टीकरण कर दिया है। आसक्त कौरव केवल कर्म्मपरायण थे, पाण्डव केवल धर्म्मपरायण थे अतएव महाभारत युद्ध से पहिले-पहिले दोनों ही अशान्त रहे। इस अशान्ति का निराकरण किया भगवान् ने। इसके लिए उन्हें बुद्धियोग का उपदेश देना पड़ा। इस प्रकार विज्ञानदृष्टि से सम्पूर्ण विश्व ही आत्मापेक्षया धर्म्मक्षेत्र है एवं विश्वापेक्षया कुरुक्षेत्र है। इसमें युद्ध करनेवाले धर्म्माभिमानी पाण्डव हैं, कर्म्माभिमानी कौरव हैं। एक कहता है, संसार का वैभव ही सब कुछ है। दूसरा दल कहता है—धर्म्म ही सब कुछ है। विश्व को अशान्त रखनेवाली यह एक बडी जटिल समस्या है। हमें उस उपदेशक की आवश्यकता है—जो हमारे सांसारिक वैभव को भी सुरक्षित रक्खे, दूसरे शब्दों में हमें कर्म्मक्षेत्र पर भी आरूढ़ रक्खे एवं साथ ही में आत्मा का भी विकास करता रहे। ऐसे उपदेशक हैं—भगवान् कृष्ण एवं बुद्धियोग प्रतिपादक भगवान् का गीताशास्त्र। इस प्रकार—"गीता का धर्म्म०" इत्यादि पहिला श्लोक ऐतिहासिक घटना के साथ-साथ ही अपने प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करता हुआ ही हमारे सामने आता है।

———

यह तो हुई विज्ञानदृष्टि। अब ऐतिहासिकदृष्टि से भी कुरुक्षेत्र का विचार कीजिए। तीर्थ एवं क्षेत्रों का हमारे शास्त्रों में बडा ही महत्त्व माना गया है एवं यह महत्त्व अवश्य ही सत्यविज्ञान की अचल भित्ति पर प्रतिष्ठित है। **गंगा, यमुना, नर्मदा, सरस्वती** आदि नदियों का पवित्र जल, ऋषियों द्वारा सेवित पवित्र जल, शास्त्र, यज्ञ भूमि, जीविका, स्त्रीरज, अवतार, उपाध्याय मन्त्री, इत्यादि के लिए **तीर्थ**शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि कोशकार कहते हैं—

निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ।[1]

तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायनारीरजःसु च।
अवतारर्षिजुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु॥[2]

---

१ अमरकोश ३।३।८६।

२ मेदिनी।

दुःख से तरण करानेवाला तत्त्व किंवा पदार्थ हो तोर्थ है। जिसके आश्रय से हम दुःख से विमुक्त होते हुए बंधन से विमुक्त हो जायँ, वही आश्रयदाता हमारे लिए तीर्थ है। गङ्गादिनदियों के जल में स्नान करने से आत्ममल का विनाश होता है, चित्तशुद्धि होती है, अतएव इन जलावतारों को हम अवश्य ही तीर्थ कह सकते हैं। मान लीजिए आपके शहर की सीमा पर एक सरोवर है। यदि उसके तट पर चिरकाल तक कोई ऋषि, तपस्वी निवास कर लेता है तो उसके तपोयोग से सरोवर के उस साधारण पानी में भी एक प्रकार का पुण्यातिशय उत्पन्न हो जाता है। फलतः जो माहात्म्य प्राकृतिक गङ्गादि नदियों के जलों में है, वही माहात्म्य इसमें उत्पन्न हो जाता है। जो फल गङ्गास्नान से होता है, वही फल ऐसे ऋषि से-[१] वित जलों में स्नान करने से प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में ऐसे जलों को भी हम तीर्थ कह सकते हैं। शास्त्रज्ञान भो आत्मतरण का साधक बनता हुआ अवश्य ही तीर्थ है। यज्ञभूमि भी यज्ञातिशय से पवित्र बनती हुई कल्याणभावोत्पादिका बनती हुई तीर्थ है। जीविका ही हमारे जीवन की साधिका है। इसी के बल पर हम आत्मोद्धार करनें में समर्थ होते हैं, फलतः इसका भी तीर्थत्व सिद्ध हो जाता है। स्त्री का रज ही इसके ऋतुभाव की प्रतिष्ठा है। ऋतुभाव ही प्रजोत्पत्ति का कारण है। प्रजा ही प्रेतात्मा को पिण्डदानादि से मुक्त करती है। इसीलिए स्त्रीरज भी तीर्थ कोटि में प्रविष्ट हो जाता है। अवतारपुरुष सम्पूर्ण मनुष्यों का उद्धार करने के कारण तीर्थ है। उपाध्याय (गुरु) ही सदुपदेशों से आत्मोद्धार का कारण बनता है। इसका भी तीर्थत्व स्फुट है। इसीलिए एक गुरु के पास पढने वाले शिष्य सतीर्थ्य कहलाते हैं। इन सब तीर्थों में गाङ्गेयादि प्राकृतिक जलतीर्थों का अधिक माहात्म्य है क्योंकि प्राकृतिक होने से यह इतर तीर्थों की अपेक्षा अधिक स्थायी है। इस प्रसिद्ध तीर्थमर्य्यादा के अनुसार यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि तीर्थशब्द का व्यवहार जल के साथ होता है एवं क्षेत्रशब्द का सम्बन्ध भूमि के साथ है। जहां की भूमि अति पवित्र होती है, वह स्थान क्षेत्र कहलाता है एवं जहां का जल पवित्र होता है, वह स्थान तीर्थ

---

१ जयपुर शहर से बाहर पूर्व दिशा में एक पानी का स्रोत बहता है। यहां सुप्रसिद्ध गालव ऋषि ने चिरकाल तक तपश्चर्या की थी। अतः यह तीर्थ गालवाश्रम नाम से प्रसिद्ध है। राजपूताने में रहनेवाले श्रद्धालु इस स्रोतजल को गङ्गासम पवित्र मानते हैं।

कहलाता है । जहां को भूमि एवं जल दोनों पवित्र होते हैं, वह स्थान तीर्थ-क्षेत्र दोनों नामों से व्यवहृत होते हैं ।

भौमदेवता, महर्षि, याज्ञिकों के सम्बन्ध से जहां की भूमि पवित्र बन गई, वही प्रदेश क्षेत्र कहलाया । सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक **कुरुक्षेत्र** स्थान इन्हीं कारणों से धर्म्मभूमि माना गया । हरिद्वार, गङ्गातोय के सम्बन्ध से तीर्थ कहलाया । पुष्कर–प्रयाग–वाराणसी आदि क्षेत्र कहलाए एवं तीर्थ भी कहलाए । एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहए । जल का सम्बन्ध भृगु से है एवं भूमि का सम्बन्ध अङ्गिरा से है । विशेषत: यज्ञाग्निरूप अङ्गिरा क्षेत्र का जनक है, चान्द्रसोम गंगातोय का जनक है । अङ्गिराग्नि का मूलप्रभव सूर्य्य है । सूर्य्य ही देवयजन क्षेत्र है–जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । इसीलिए सूर्य्यग्रहण में तत्सम्बन्धी कुरुक्षेत्र का अधिक महत्त्व माना जाता है एवं **चन्द्रग्रहण में** तत्सम्बन्धो बनारस का विशेष महत्त्व माना जाता है ।

आज हम पाठकों के सामने कुरुक्षेत्र के सम्बन्ध में सर्वथा नवीन विचार, नहीं-नहीं सर्वथा प्राचीन विचार उपस्थित करना चाहते हैं । जिस प्रकार पुष्कर क्षेत्र **आधिदैविक, भौमस्वर्गीय, भारतवर्षीय** भेद से तीन तरह का है, एवमेव कुरुक्षेत्र भी तीन प्रकार का है । इन तीनों कुरुक्षेत्रों में से क्रमप्राप्त पहिले आधिदैविक कुरुक्षेत्र का ही संक्षिप्त स्वरूप उपस्थित किया जाता है ।

१–आधिदैविक कुरुक्षेत्र–

ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीन तत्त्वों के उपबृंहित रूप का ही नाम विश्व है । इन्हीं तीन तत्त्वों के कारण विश्वात्मक महाक्षेत्र **ज्ञानक्षेत्र, कर्म्म-क्षेत्र, अर्थक्षेत्र** भेद से तीन भागों में विभक्त हो रहा है । इन तीनो क्षेत्रों के विभाजक विश्व के सुप्रसिद्ध स्वयंम्भू–परमेष्ठी–आदि पांच पर्व हैं । स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टि ज्ञानक्षेत्र है । यही मृत्युगर्भित अमृतक्षेत्र है । सूर्य्य से ऊपर इसी क्षेत्र का साम्राज्य है । चन्द्रमा-पृथिवी का समुच्चय अर्थक्षेत्र है । सूर्य्य से नीचे इसी का साम्राज्य है । यही अमृतगर्भित मृत्युक्षेत्र है । स्वयं सूर्य्य कर्म्मक्षेत्र है । यहां अमृत (ज्ञान) मृत्यु (कर्म्म) दोनों का समन्वय है । यही सौरमण्डल प्राकृतिक नित्य कुरुक्षेत्र है । इसमें सौर प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहते हुए अग्नीषोमात्मक यज्ञ का सञ्चालन कर रहे हैं । इसीलिए इसे **"देवयजनभूमि"** कहा जाता है ।

ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार **कदम्ब** का **क्रान्तिवृत्त** के साथ सम्बन्ध है एवं ध्रुव का **विषुवद्वृत्त** के साथ सम्बन्ध है। कदम्ब आसुरी भाषा का शब्द है। इसे ही वैदिक भाषा में **"नाक"** कहा जाता है। यही नाकस्थान विष्णुपद नाम से प्रसिद्ध है। नाक एक स्थिर बिन्दु है। इसमें प्रतिष्ठित परमेष्ठी ही विष्णु है। इस नाकस्थ विष्णु के चारों ओर २४ अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर ध्रुव परिक्रमा लगाया करता है। ध्रुव की यह परिक्रमणा लगभग २५ हजार वर्ष में समाप्त होती है। विषुवद्वृत्त की प्रत्येक बिन्दु से यह सौम्य ध्रुव ९० अंश पर है। इसीलिए विषुवद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र को ध्रुव कहा जाता है। पार्थिव विषुव ध्रुव के साथ नित्य सम्बद्ध है। चूँकि ध्रुव परिभ्रमण के कारण परिवर्तित होता रहता है, अतएव तत्-सम्बद्ध विषुव को भी परिवर्तित होना पड़ता है। यही विषुव का अयन (गमन) है। विषुवद्वृत्त पर आरूढ़ भूपिण्ड खगोलीय क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाता है। विषुव से क्रान्तिवृत्त का लगभग २४(२३।।) अंश का अन्तर है। ध्रुव और नाक का भी इतना ही अन्तर है। क्रान्तिवृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्र का ही नाम नाक किंवा कदम्ब है। इसी अन्तर के कारण विषुव और क्रान्तिवृत्त में २४ अंश का अन्तर है। सूर्य्य को केन्द्र में रखकर इसके चारों ओर क्रान्तिवृत्त के आधार पर भूपिण्ड घूमता है। क्रान्तिवृत्तावछिन्न सौरमण्डल ही **"कुरुक्षेत्र"** है।

यज्ञपरिभाषा के अनुसार इसी कुरुक्षेत्र को **"नवाहयज्ञ"** कहा जाता है। अहर्गणविद्या के अनुसार पृथिवी के २१वें अहर्गण पर सूर्य्यबिम्ब की प्रतिष्ठा मानी गई है। **"एकविंशो वा इत आदित्यः"**। जिस प्रकार १ अहर्गण से आरम्भ कर २१वें अहर्गण तक व्याप्त अग्नीषोमात्मक "आतानयज्ञ"–**"स्वाहायज्ञ"** आदि नामों से प्रसिद्ध है, एवमेव १७ हवें अहर्गण से आरम्भ कर २५वें अहर्गण तक व्याप्त सौरयज्ञ **"नवाहयज्ञ"** नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार आतानयज्ञात्मक विष्णु **त्रिविक्रमवामन** नाम से व्यवहृत होता है एवमेव सर्वदा ज्योतिष्मान् यह नवाहयज्ञात्मक विष्णु **"सत्यनारायण"** नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री और लक्ष्मी इनकी ये दो पत्नियाँ मानी गई हैं। इस यज्ञमण्डल में कभी तम का प्रवेश नहीं होता, अतएव यह यज्ञमण्डल पुराणों में **"श्वेतदीप"** नाम से व्यवहृत हुआ है। श्वेतदीप ही ब्राह्मण-ग्रन्थोक्त कुरुक्षेत्र है। इसी दिव्य कुरुक्षेत्र का अथर्ववेद ने **"स्कम्भ"** रूप से बडा विशद निरूपण किया है। यह नवाहयज्ञ ही विश्व का **"स्कम्भ"** (स्तम्भ–खम्भा) है। कारण स्पष्ट है। प्रत्येक वस्तु की मूलप्रतिष्ठा उस

वस्तु का हृदय (केन्द्र) ही होता है। हृदय ही तत्तद्वस्तु का जीवन है। अतएव हृच्छक्ति को प्रजापति कहा जाता है, जैसाकि **"प्रजापतिश्चरतिगर्भे"** **"तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि"** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। विश्व के केन्द्र में सूर्य्यभगवान् प्रतिष्ठित हैं। स्वयम्भूपरमेष्ठी रूप ज्ञानक्षेत्र इससे ऊपर है, चन्द्रमा-पृथिवीरूप अर्थक्षेत्र इससे नीचे है। मध्य में कुरुक्षेत्र, किंवा कर्म्म-क्षेत्रमूर्ति सूर्य्य प्रतिष्ठित है, जैसाकि **"बृहद्ध तस्थौ भुवेनष्वन्तः"**–**"मध्ये एकल एव स्थाता"**–**"आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"** इत्यादि श्रौतवचनों से स्पष्ट है। जब तक सूर्य्यरूप स्कम्भ है, तभी तक विश्व की प्रतिष्ठा है। इसी स्कम्भापरपर्य्यायिक कुरुक्षेत्र में प्रतिष्ठित—सौरप्राणदेवता सौराग्नि में पारमेष्ठय सोम की आहुति द्वारा यज्ञकर्म्म सम्पादन करते हुए संवत्सर का स्वरूप निर्म्माण करते हैं। संवत्सर ही अपने पर्वरूप ऋतुओं से सबका उपादान बनता है। इस प्रकार परम्परया स्कम्भ का ही सर्वमूलत्व सिद्ध हो जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर अथर्व श्रुति कहती है—

१–यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव॥[1]

२–हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा॥[2]

३–स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेध्यृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥[3]

४–इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेध्यृतमाहितम्।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥[4]

५–स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश॥[5]

---

१ अथर्ववेद १०।४।७।८। २ अथर्ववेद १०।४।७।२८।
३ अथर्ववेद १०।४।७।२९। ४ अथर्ववेद १०।४।७।३०।
५ अथर्ववेद १०।४।७।३५।

६–बृहन्तो नाम ते देवा ये सतः परिजज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ।।[1]

७–यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ।।[2]

८–यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।।[3]

उक्त स्कम्भवर्णन में ऋषि ने हिरण्यगर्भ एवं इन्द्र को प्रधानता दी है। एक स्थान पर तो स्पष्ट शब्दों में इन्द्र को ही स्कम्भ बतला दिया है। वास्तव में बात ऐसी ही है। सौर प्राण को ही हिरण्यगर्भ प्रजापति कहते हैं, एवं यही सौर प्राण इन्द्र नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रकृतिविज्ञान के अनुसार इन्द्र मध्य में प्रतिष्ठित है। इसके उस ओर ब्रह्मा-विष्णु हैं। इस ओर सोम अग्नि हैं। इसी अभिप्राय से ब्राह्मण-ग्रन्थों में मध्यस्थ इन्द्र का— **"यो मध्यत ऐन्ध तस्मादिन्धः। इन्धो ह वैनामैतद्यदिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्"** यह निर्वचन किया गया है। अपिच **"निवेशयन्नमृतं मर्त्यंच"** इत्यादि रूप से सूर्य्य को अमृत मृत्यु दोनों तत्त्वों का अधिष्ठाता बतलाया गया हे। इस अथर्वश्रुति ने भी **"यत्रामृतं च मृत्युश्च"** इत्यादि रूप से इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। इन्हीं सारी एकवाक्यताओं को लक्ष्य में रखते हुए हम नवाहयज्ञमण्डल को **स्कम्भ** शब्द से व्यवहृत करने के लिए तय्यार है। यही स्कम्भ किंवा कुरुक्षेत्र देवभूमि है। यही प्राकृतिक नित्य आधिदैविक स्वर्ग हैं।

स्वर्गलोक ६ भागों में विभक्त माने गये हैं, जिनका कि विशद विवेचन आगे की **आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्** में होने वाला है। ६ में से तीन का एक स्वतन्त्र विभाग है एवं सात का एक स्वतन्त्र विभाग है। तीन स्वर्ग क्रमशः **ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप, इन्द्रविष्टप** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। कुरुक्षेत्र

---

१ अथर्ववेद १०।४।७।२५। २ अथर्ववेद १०।४।७।२७।

३ अथर्ववेद १०।४७।१५-१६।

रूप स्कम्भ को हमने नवाहयज्ञ बतलाया है। इसमें १/१७–२/१८–३/१९–४/२०–५/२१–६/२२–७/२३–८/२४–९/२५ ये ९ अहर्गण हैं। इनमें से १७ अहर्गण स्थान ही ब्रह्मविष्टप है। इसी को त्रिणाचिकेतस्वर्ग भी कहा जाता है। २१वां अहर्गण ही विष्णुविष्टप एवं २५वां अहर्गण प्रदेश इन्द्र विष्टप है। यही **"अविवाक्यमहः"** **"महाव्रतमहः"** इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। इसी को पुराण ने **"अशोकमहिम"** **"अपुनर्मार"** **"कामप्र"** आदि नामों से व्यवहृत किया है। इन तीनों विष्टपस्वर्गों की समष्टि ही **"त्रिविष्टप"** स्वर्ग नाम से प्रसिद्ध है। 'इन तीनों से सर्वथा भिन्न १/१८–२/१९–३/२०–४/२१–५/२२–६/२३–७/२४ यह सात अहर्गण क्रमशः सात देवस्वर्ग हैं। इन्हीं के लिए **"सप्त वै देवस्वर्गाः"** यह प्रसिद्ध है। यह कुरुक्षेत्र नाम की देवयजनभूमि है। यह मण्डल प्रजापति की वेदि है। अग्नि इस यज्ञ के होता हैं, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता है, चन्द्रमा ब्रह्मा है, सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्रजापति यजमान है। इसी आधिदैविक कुरुक्षेत्र को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"ते देवा अब्रुवन्–एतावती वाव प्रजापतेर्वेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रम्"[1]

यही कुरुक्षेत्र अविमुक्तधाम है। निष्कामकर्म्मयोगापरपर्यायक बुद्धियोग के अनुयायी ही इस धाम में प्रतिष्ठित होते हैं। कारण इसका यही है कि बुद्धियोग में ज्ञानकर्म्म दोनों योगों का समन्वय है। उधर इस सौरदिव्य कुरुक्षेत्र में भी अमृतलक्षणज्ञान, मृत्युलक्षणकर्म्म दोनों का समन्वय है। सूर्य्य की मूलप्रतिष्ठारूपा इन्द्रमयी वाक्प्रकृति ही तो बुद्धि की जननी है। इसी से बुद्धियोग का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रवृत्तिमूलक यज्ञकर्म्म से केवल त्रिणाचिकेत नाम के १७वें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। हां यज्ञों में भी केवल चयनयज्ञ नाम का अग्नियज्ञ ऐसा है, जिसके अतिशय से कर्म्मात्मा इस कुरुक्षेत्र में प्रतिष्ठित होता हुआ जरामरण से विमुक्त हो जाता है, जैसा कि—**"नामृतत्वस्य तु आशास्ति ऋते चयनात्"** इत्यादि वचन से है। चयनयज्ञ के अतिरिक्त फिर दूसरा साधन एकमात्र बुद्धियोग ही इस क्षेत्र की प्राप्ति का साधन है। यह दिव्यकुरुक्षेत्र हमारी नयी कल्पना नहीं है। स्वयं गीताव्याख्याताओं ने भी इसकी सत्ता मानी है, जैसा कि निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जाता है—

---

१ ता० ब्रा० २५।१३।३

"तत्र वेदे तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमासेति कर्म्मकाण्डप्रसिद्धं कुरुक्षेत्रमन्यत् । अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं-सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनमित्यविमुक्ताख्यं ब्रह्मप्राप्तिस्थानभूतं कुरुक्षेत्रं-मन्यत् । ब्रह्मसदनत्वं चास्य । अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे । येनासावमृतीभूत्वा मोक्षी भवतीति वाक्यशेषेण व्युत्पादितम् । एवद्व्यावृत्यर्थं धर्म्मक्षेत्र इति विशेषणम् । कुरुदेशान्तरगतं हि कुरुक्षेत्रं धर्म्मक्षेत्रमेव, नतु तत् ब्रह्मसदनम् । प्रवर्ग्यकाण्डे तस्य धर्म्मक्षेत्रत्वमात्रश्रवणात् । तत्र समवेताः × × ×" ।[1]

—०—

२–स्वर्गीय कुरुक्षेत्र—

वैदिककाल में इस पृथिवी पर देवयुग व्यवस्था थी, जिसका कि दिग्दर्शन भाष्यभूमिका में कराया जा चुका है । प्राकृतिक रचना के आधार पर भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा ने इसी पृथिवी पर **लोक–देव–मनुष्य–असुर** आदि की व्यवस्था की थी । इसी व्यवस्था में स्वर्गभूमि में एक नवीन कुरुक्षेत्र की कल्पना की गई थी, जिसका कि महाभारत के **सभापर्व** में बडे विस्तार से निरूपण हुआ है । जिस प्रकार प्रकृति में ब्रह्म-विष्णु-इन्द्रविष्टप हैं, एवमेव यहां भी तीनों विष्टपों की कल्पना की गई थी । प्राङ्मेरु (पामीर) से उत्तर का भूभाग उस युग का द्युलोक था । आज जो प्रान्त **रूस** नाम से प्रसिद्ध है, वह उस युग में स्वर्ग था । यहाँ यज्ञविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक भौमदेवता निवास करते थे । इन देवताओं ने उसी प्रदेश में तीनों विष्टपों के मध्य में यज्ञभूमि बना रक्खी थी । यहीं उस युग का प्रसिद्धशिल्प (कारीगरी) **'स्वर्गधरुण'** प्रतिष्ठित था । इस यज्ञभूमि में देवता लोग यज्ञ किया करते थे, एवं इसी यज्ञ के बल पर वे अफ्रीका में रहने वाले असुरों को परास्त किया करते थे । चूंकि देवतालोग इस भूमि में यज्ञकर्म्म किया करते थे अतएव यह प्रदेश **'कुरुक्षेत्र'** नाम से प्रसिद्ध हुआ । आगे जाकर भारतीय कुरुक्षेत्र से इसे पृथक् करने के लिए **'उत्तरकुरु'** नाम से व्यवहृत

१ महा॰ भीष्म पर्व २५।१ श्लोक (नीलकण्ठी टीका)

किया गया। इसी स्वर्गीय कुरुक्षेत्र के लिए **"कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमास"** यह कहा जाता है। रूस प्रान्त में निरक्ष से उत्तर·········अक्षांश पर सुप्रसिद्ध **बालकश** नाम की झील है। यहीं उस युग की **'सरस्वती'** नदी है। ऋग्वेद में बडे विस्तार से इस नदी का निरूपण किया गया है। यही नदी आगे जाकर **'प्राचीसरस्वती'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसी नदी में भौमदेवता **अवभृथस्नान** (यज्ञान्तस्नान) किया करते थे। इसी पुण्यातिशय के कारण यह नदी बडी पवित्र मानी गई है। इस सरस्वती के अतिरिक्त दो सरस्वतियाँ और हैं। एक सरस्वती पश्चिम भारतवर्ष में है, दूसरी पूर्वीय भारतवर्ष में है। सिन्धुनद से उस पार महीसागर (मेडिट्रेनीयेन्सी) पर्य्यन्त सारा प्रदेश पश्चिम भारत में है एवं सिन्धु से इस ओर पूर्वसमुद्रपर्य्यन्त साराप्रदेश पूर्वी भारतवर्ष है। सिन्धु से लगभग ५ कोस पश्चिम महर्षि वशिष्ठ का आश्रम था। यह बाल्हीक (बलख) निवासी वरुण के अभिन्न मित्र थे। इन्हीं वशिष्ठ के आश्रम के समीप एक नदी बहती है, वही पश्चिम भारत की सरस्वती नदी है। दूसरी सरस्वती भारतवर्षीय कुरुक्षेत्र से सम्बन्ध रखती है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

३–भारतवर्षीय कुरुक्षेत्र—

हस्तिनापुर से पश्चिम का सारा प्रदेश सुप्रसिद्ध कुरुक्षेत्र है। धृतराष्ट्र के शासनकाल में इस प्रान्त के प्रान्ताधीश अङ्गदेशाधिपति **कर्ण** थे, जैसा कि भूमिकान्तर्गत ऐतिहासिकसन्दर्भ-संगतिप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी कुरुक्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली नदी दूसरी सरस्वती है। इसी का **विज्ञानक्षेत्र** से सम्बन्ध है। इसी क्षेत्र में महर्षि **अङ्गिरा** का आश्रम था। यह सरस्वती आगे जाकर एक टीले में लुप्त होकर फिर निकली है, अतएव इसे **"लुप्तासरस्वती"** भी कहा जाता है। आज भी कुरुक्षेत्र के यात्रियों को वहाँ के पण्डे लोग वर्षा के जल को सरस्वती नदी का जल बतलाया करते हैं। इस कुरुक्षेत्र का भी पुराणों में बडा माहात्म्य है। इसके कई एक कारण हैं। भारतवर्ष की जिस पवित्र भूमि में ब्रह्मादि देवताओं ने यज्ञ किया, वही भूमि राजर्षि कुरु के हल चलाने से कुरुक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हुई। स्वयं व्यासदेव ने कुरुक्षेत्र नाम का निर्वचन करते हुए बतलाया है कि यह भूमि किसी समय प्रजापति (ब्रह्मा) की यज्ञवेदि रही है। कुरु राजर्षि इस उद्देश्य से इस दृष्टि से इसमें स्वयं अपने हाथों हल

चलाते थे कि इस क्षेत्र में जो पुरुष मरें, वे पापरहित होकर पुण्यलोको में गमन करें। पहिले तो इन्द्र कुरु के इस तप का उपहास करते रहे, परन्तु जब कुरुराज का तप उग्र स्थिति पर पहुँच गया तो इन्द्र को उपहास छोडना पड़ा एवं ब्रह्मादि की अनुमति से उन्हें कुरु को अभिलषित वर देना पड़ा। (देखिए म० भा० शल्यप० ५३ अ०)। तब से इस स्थान का माहात्म्य और भी अधिक माना जाने लगा।

पुराण के आधार पर यह भी कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध ब्राह्मण वीर राम (परशुराम) ने २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर इसी क्षेत्र में क्षत्रियों के रुधिर से पितृतर्पण किया था। कुरुक्षेत्र के जङ्गल में ढाक के वृक्ष अत्यधिक संख्या में विद्यमान हैं। ढाकवृक्ष के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती है कि जिस भूमि में अधिक रक्तपात होता है, वहाँ (रक्तसम्बन्ध से) ढाक अधिक उत्पन्न होता है। अस्तु, यह सिद्ध विषय है कि ब्रह्मा के आगमन के कारण, समय-समय पर देवताओं के आगमन के कारण, परशुराम के पितृतर्पण के कारण एवं अन्यान्य भारतवर्षीय महर्षियों के चिरकालिक तपोयोग के कारण कुरुक्षेत्र वास्तव में धर्म्मभूमि है, पवित्र प्रदेश है। इसीलिए युद्धार्थ इस क्षेत्र को योग्य समझा गया।

ब्रह्मा कई बार (५ बार) भारतवर्ष में आये। राजपूताना के मध्य में सुप्रसिद्ध **अजमेर** मेरवाड़ा नाम का सेण्ट्रल गवर्नमेंन्ट प्राविंस है। इसके समीप **पुष्कर** नाम का सुप्रसिद्ध तीर्थ है। सबसे पहिले ब्रह्मा ने इसी स्थान को पवित्र किया। उनके पुण्यातिशय से ही यह स्थान **"पुष्कर-क्षेत्र"** कहलाया एवं यज्ञान्तस्नान के सम्बन्ध से यहाँ के सरोवर का जल भी पवित्र बन गया। इस जलसम्बन्ध से यह स्थान **"पुष्कर-तीर्थ"** नाम से प्रसिद्ध हुआ। ब्रह्मा के यज्ञ में जो भारतवर्षीय ब्राह्मण शामिल हुए थे एवं ब्रह्मा ने यज्ञ-कर्म्म में अपने हाथों से जिनका सूत्र (मौली) से वरण किया था, वे ही ब्राह्मण प्रवर के आदि प्रवर्त्तक हुए। ब्रह्मा ने **पुष्कर–प्रयाग–कुरुक्षेत्र** इन तीन स्थानों में ३–१–१ इस क्रम से ५ बार यज्ञ किया। चूँकि पुष्कर में तीन बार यज्ञ किया, अतएव यही स्थान **"ब्रह्मतीर्थ"** माना गया। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि समस्त पूर्वीय भारत में सिवाय पुष्कर के अन्यत्र कहीं भी ब्रह्मा का मन्दिर नहीं है। हाँ, तो कहना हमें यह था कि जो ब्राह्मण यज्ञ में एक बार शामिल हुए, वे एवं उनके वंशज **"एकप्रवर"** कहलाये। इसी प्रकार २–३–४–५ क्रम से ब्राह्मणों के

द्विप्रवर–त्रिप्रवर-चतुष्प्रवर-पञ्चप्रवर भेद से चार विभाग और हो गये। इनमें से एकप्रवरविभाग आज सर्वथा उच्छिन्न है। दक्षिण भारत में कहीं-कहीं द्विप्रवर ब्राह्मण उपलब्ध होते हैं। आज समूचे भारत में त्रिप्रवर–पञ्चप्रवर ब्राह्मणों का ही प्राधान्य है।

ब्रह्मा ने प्रयाग में भी यज्ञ किया, इसीलिए प्रयाग भी **क्षेत्र, तीर्थ** दोनों नामों से प्रसिद्ध हुआ। अन्तिम आगमन ब्रह्मा का कुरुक्षेत्र में हुआ। तब से यह स्थान भी पवित्र बन गया। ब्रह्मा को यह स्थान बहुत ही पसन्द आया। अतएव उन्होंने समय-समय पर भौमस्वर्ग से भारतवर्ष में आने वाले भौमदेवताओं के विश्राम के लिए यही स्थान नियत कर दिया। जब तक पृथिवी पर देवयुग का साम्राज्य रहा, तब तक कुरुक्षेत्र ही इनका विश्राम स्थान रहा। तत्समय में न इसमें कोई खेती कर सकता था, न भारतवर्षीय कोई राजा अथवा मनुष्य निवास कर सकता था। यह स्थान एकमात्र भौमदेवताओं के लिए ही सुरक्षित था। चूँकि स्वर्ग में भी कुरुक्षेत्र था, अतएव उससे विभक्त करने के लिए इस भारतवर्षीय कुरुक्षेत्र को **"धर्म्मक्षेत्र"** नाम से सम्बोधित किया गया। इसी क्षेत्र में दोनों सेनाएँ युद्ध के लिए सम्मिलित हुईं।

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। भौमत्रिलोकी की रचना, वहाँ के नियम आदि हमें आश्चर्य में डालने वाले हैं। अवश्य ही वे नियम किसी अन्तर्निगूढ प्राकृतिक रहस्य से सम्बन्ध रखते हैं। भारतवर्ष पर प्रकृति देवी का कुछ विशेष अनुग्रह मालूम होता है। सुनते हैं—स्वर्ग में निवास करने वाले भौमदेवता भी भारतवर्ष में जन्म लेने के लिए लालायित रहते हैं। सचमुच राम-कृष्णादि जैसे अवतार जिस भूमि को पवित्र करें, उसके माहात्म्य का कैसे बखान किया जा सकता है? यह एक और भी आश्चर्यमयी बात है कि वैदिक महर्षियों के मतानुसार एकमात्र भारतवर्ष ही कर्म्म भूमि है। यहाँ जैसा कर्म्म किया जाता है, तदनुसार ही शुभाशुभफल भोगा जाता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त कोई प्रदेश ऐसा नहीं है, जिसे कर्म्मभूमि कहा जाय। इसीलिए धर्म्म की व्यवस्था एकमात्र भारतवर्ष से ही सम्बन्ध रखती है। इसी देश में कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता है एवं जिस देश में कृष्णमृग स्वभावतः विचरता है, वहीं धर्म्मतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। भारतवर्ष में उत्पन्न व्यक्ति शुभ कर्म्मों द्वारा पहिले भौमदेवयोनि में जन्म लेता है, वहाँ अपने सुकृत कर्म्मों का फल भोगता है, अनन्तर देवयुग में

आदिकाल से प्रचलित बुद्धियोगनिष्ठा द्वारा अविमुक्तधामरूप उस नित्य कुरुक्षेत्र में जाकर मुक्त होता है। इसी परम्परा के कारण भारतवर्ष को जहाँ कर्म्मभूमि कहा जाता है, वहाँ भौमस्वर्ग भोगभूमि नाम से व्यवहृत हुआ है। वहाँ कर्म्म का भोग होता है, इसीलिए इसे तो कर्म्मभोगभोग्यत्वेन कुरुक्षेत्र कहा जाता है एवं भारतवर्ष वास्तव में कुरुक्षेत्र है। अस्तु, ये सभी विषय ऐसे हैं, जिनका शृङ्खलाबद्ध निरूपण हुए बिना सन्देहनिवृत्ति के स्थान में अनेक सन्देह और उत्पन्न हो जाते हैं। इनके लिए तो पुराण रहस्यादि स्वतन्त्रग्रन्थों का अवलोकन ही अपेक्षित है। उक्त सम्पूर्ण सन्दर्भ से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि—उस सुप्रसिद्ध कुरुक्षेत्र के लम्बे चौड़े मैदान में समवेत युद्धेच्छु कौरव-पाण्डवों के सम्बन्ध में अपने राष्ट्र की भावी परिस्थिति का निश्चय करने के लिए धृतराष्ट्र ने सञ्जय से—"किमकुर्वत"? यह प्रश्न किया।

—०—

१–(२)

सञ्जय उवाच–

१–दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥

२–पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥[1]

[**मूलानुवाद**]–सञ्जय बोले–"उस समय व्यूह बनाकर खड़ी हुई पाण्डवों की सेना को देखकर आचार्य के समीप पहुँच कर राजा दुर्योधन ने निम्नलिखित वचन कहा। हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) के द्वारा व्यूह-रचना से युक्त पाण्डुपुत्रों की बडी भारी सेना पर दृष्टि डालिए"।

---

१. गीता १ अ० २-३ श्लोक।

[भाष्य]—इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि महाभारत-युद्धारम्भ में कुरुकुल वृद्ध पितामह **भीष्म** सेनाध्यक्ष थे। ऐसी स्थिति में सैन्यनिरीक्षण का कार्य अथवा दोनों सेनाओं के बलों की तुलना का विचार भीष्म पर ही निर्भर होना चाहिए था, फलतः दुर्योधन को भीष्म से ही इस सम्बन्ध में परामर्श करना उचित था। ऐसा न कर **द्रोणाचार्य** के साथ परामर्श करने का क्या कारण ? इस प्रश्न के कई एक समाधान किये जा सकते हैं। सेनाध्यक्ष अवश्य ही थे, परन्तु कौरव-दल के मुख्य-मुख्य वीरों ने एवं पाण्डवों ने द्रोणाचार्य से ही युद्धविद्या का अध्ययन किया था। वे दोनों पक्षों के गुरु थे। भीष्म की अपेक्षा गुरु द्रोण इस सम्बन्ध में ठीक अनुमान लगा सकते थे एवं इसी अनुमान पर दुर्योधन का जय, पराजय अवलम्बित था, अतः उसने इस सम्बन्ध में आचार्य से ही परामर्श करना उचित समझा।

दुर्योधन आचार्य से परामर्श करता है, परन्तु कटाक्ष के साथ। वह जानता है कि द्रोण दोनों पक्षों के ही आचार्य हैं, फिर भी द्रोण को उत्तेजित करने के लिए दुर्योधन कहता है कि **हे पाडुपुत्रों के आचार्य !** (पाण्डुपुत्राणामाचार्य !) इस बडी भारी सेना को देखो। इस उक्ति से दुर्योधन यही सूचित करता है कि आप कहने को उभय-पक्ष के आचार्य हैं, वस्तुतः अर्जुनादि पाण्डुपुत्रों पर आपका विशेष स्नेह है। इसी कटाक्ष का, पक्षपात का संकेतविधया स्पष्टीकरण करता हुआ दुर्योधन कहता है कि देखिए न आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद के पुत्र ने इस बडी सेना की व्यूह रचना की है। अभिप्राय दुर्योधन का यही है कि द्रुपद आपके बचपन का मित्र था। परन्तु आपने अपने भोलेपन से उससे धोखा खाया। उसी मित्र ने भरी सभा में आपका तिरस्कार किया। आप जानते थे कि द्रुपद मेरा शत्रु है, ऐसी स्थिति में आपको उस शत्रुपुत्र धृष्टद्युम्न को युद्धविद्या न सिखानी थी। परन्तु फिर आप भोलेपन में आ गये। धृष्टद्युम्न की बुद्धिमानी में कसर नहीं, आपके भोलेपन में कमी नहीं। लीजिए आपका ही शिष्य, साथ ही में अपने पिता और आपके सहज शत्रुभाव को समझते हुए भी काम बना ले जाने वाला बुद्धिमान् धृष्टद्युम्न आज आप ही से सामना करने खड़ा हुआ है। जब शिष्य धृष्टद्युम्न अपनी धृष्टता में चूका तो शिष्य अर्जुन (जिसके प्रति आप महास्नेह रखते हैं) आपके साथ अच्छा व्यवहार करेगा, यह कैसे आशा की जा सकती है ? इस प्रकार सामनीति का आश्रय लेता हुआ दुर्योधन संकेत से आचार्य को यह बतला देना चाहता है कि

आपको पाण्डवों की सेना पर, स्वयं पाण्डवों पर कभी विश्वास न करना चाहिए। आपने जो पाण्डवों को धर्म्मपरायण समझ रक्खा है, यह आपका भ्रम है। इस साम के साथ-साथ ही "राजा" शब्द से दण्डभाव को भी सूचित किया जा रहा है। दुर्योधन राजा है, द्रोणादि का पालक है। आचार्य को यह नहीं भूलना चाहिए कि आज वे एक राजा की ओर से लड़ रहे हैं। यदि कहीं भी पक्षपात का गन्ध हुआ तो राजा भी अपने कर्त्तव्य को न भूलेगा। "द्रोणाचार्य के सम्बन्ध में भी दुष्टबुद्धि दुर्योधन की यदि ऐसी धारणा है तो उसका सर्वनाश निश्चित है।" उक्त दोनों श्लोकों से यही व्यङ्ग्यार्थ निकलता है।

एक प्रश्न और। कौरवों की ११ अक्षौहिणी सेना थी, पाण्डवों की ७ ही अक्षौहिणी सेना थी। सुतरां पांडवसेना की अपेक्षा कौरव सेना ही **महती** थी, फिर दुर्योधन ने यह कैसे कहा कि हे आचार्य! इस बडी सेना को देखिए (**पश्यैतां महतीं चमूम्**)। इसके दो कारण हैं। एक तो धृष्टद्युम्न ने व्यूहरचना इस ढंग से की थी कि जिससे संख्या में अल्प होती हुई भी पाण्डवसेना देखने वाले को बडी प्रतीत हो रही थी। युद्धारम्भ से पहिले पाण्डवसेना की व्यूहरचना कौरवसेना की अपेक्षा कमजोर थी। कौरव सेना की व्यूहरचना एवं उनकी अपार सेना देखकर एकबार तो युधिष्ठिर भी डर गए थे। इस डर को दूर करने के लिए ही धृष्टद्युम्न द्वारा अचल-नामक वज्रव्यूह की रचना की गई थी। इस व्यूह से सचमुच पाण्डव-सेना बडी दिखलाई देने लगी थी। (भीष्मप० १६अ०।२१अ०)। एक दूसरा कारण यह था कि दुर्योधन समझता था कि मैं अधर्म्म से पाण्डवों का न्याय-सिद्ध अधिकार छीन रहा हूं। इसी अधर्म्मभावना से इसका आत्मा निर्बल हो गया था। कहने को यह बडो-बडो बातें बोलता था (देखिए उद्योगप० ५४-६०-७०अ०/भीष्मप० ५१-४-६)। परन्तु इसे पद पर आशङ्का थी। इसी अधर्म्मभावना से इसे धर्म्मानुयायी पाण्डवों की सेना अपनी विशाल सेना की अपेक्षा भी बडी दिखलाई देती थी।

— २ —

——०——

१-(३)

१-अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो[1] विराटश्च[2] द्रुपदश्च[3] महारथः॥ (गीता १।४)

२–धृष्टकेतु[४]श्चेकितानः[५] काशिराजश्च[६] वीर्यवान् ।

पुरुजित्[७] कुन्तिभोजश्च[८] शैव्यश्च[९] नरपुङ्गवः ।। (गीता १।५)

३–युधामन्युश्च[१०] विक्रान्त उत्तमौजाश्च[११] वीर्यवान् ।

सौभद्रो[१२] द्रौपदेयाश्च[१३] सर्व एव महारथाः ।। (गीता १।६)

[मूलानुवाद]–"यहां (पाण्डवसेना में) रणक्षेत्र में (भूझने-वाले) **भीम** और **अर्जुन** के समान **शूर** (महाबलवान्) एवं **धनुर्द्धर सात्यकि[१], विराट्[२]** महारथी **द्रुपद[३], धृष्टकेतु[४], चेकितान[५]**, वीर्य्यशाली **काशीनरेश[६], पुरुजित्[७], कुन्तीभोज[८]**, नरश्रेष्ठ **शैव्य[९]**, पराक्रमी **युधामन्यु[१०]**, वीर्य्यवान् **उत्तमौजा[११]**, सुभद्रापुत्र **अभिमन्यु[१३]** द्रौपदी के पांचों पुत्र सभी तो महारथी हैं ।"

[भाष्य]—भीम शरीरबल में प्रसिद्ध हैं। सुनते है, वनवास-काल में पाण्डुपुत्र भिक्षा में जितना अन्न लाते थे, उसके दो विभाग किए जाते थे। इनमें से एक में माताकुन्ती एवं रानी द्रौपदी सहित चारों पाण्डव उदर-पोषण करते थे एवं दूसरा विभाग एकमात्र भीम की तुष्टि का कारण बनता था। अपिच नागलोक में अमृतपान करने से भीम के शरीर में दस सहस्र हाथियों का बल आगया था,–यह भी प्रसिद्ध है। जिसमें शरीरबल अधिक होता है, उसे ही "**शूर**" कहा जाता है। महाभारत काल में धनुर्विद्या को ही प्रधानता दी गई थी। इसीलिए शिष्यपरीक्षा के अवसर पर गुरु द्रोण ने लक्ष्यवेध को ही परीक्षा का साधन बनाया था। इस प्रकार उस युग में युद्ध में विजय प्राप्त करने के **शरीरबल** एवं **धनुर्बल** ये दो साधन ही सर्वोत्कृष्ट समझे जाते थे। भीम जहां शरीर-बल के आचार्य थे तो अर्जुन धनुर्विद्या में उस युग के सर्वश्रेष्ठ योद्धा थे। द्रोण ने प्रसन्न होकर अर्जुन को वर दिया था कि सम्पूर्ण भूमण्डल में तुमसे बढ़कर कोई धनुर्विद्या में निपुण न होगा। धनुर्द्धारी को ही "**महेश्वास**" कहा जाता है। भीम

यदि शूर था, तो अर्जुन महेश्वास (महाधनुर्द्धर) था। जिस (पाण्डव) सेना में भीम जैसा शूर हो, अर्जुन जैसा महेश्वास हो, उसको जीत लेना कठिन है। पाण्डवों की सेना में न केवल भीम और अर्जुन ही शूर एवं महेश्वास हैं, अपि तु इन्हीं के जैसे—सात्यकि, विराट् आदि अनेक शूर एवं महेश्वास महारथी विद्यमान हैं। ऐसी परिस्थिति में पाण्डवसेना पर विजय प्राप्त कर लेना कोई साधारण काम नहीं है, दुर्योधन इस उक्ति से अपनी इसी दुर्बलता को प्रकट कर रहा है एवं यही दुर्बलता आगे जाकर इसके पराजय का मुख्य कारण बनी है।

१–एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥
२–अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः ।
रथस्त्वेकेन यो युद्धेत्तन्न्यूनोऽर्धरथो मतः ॥

(महा० भा० भीष्म पर्व नीलकण्ठ टीका, २५।६)

इत्यादि के अनुसार योद्धाओं के **अर्द्धरथ, रथ, महारथ, अतिरथ** भेद से चार विभाग माने गए हैं। साधारण योद्धा **अर्द्धरथ** है। एक बलवान् योद्धा से लेकर दस हजार से नीचे नीचे की सेना से युद्ध करने वाला **रथ** है। दस हजार सेना के साथ एकाकी युद्ध करने वाला योद्धा महारथ, किंवा **महारथी** है। अपरिमित सेना पर आक्रमण करने वाला योद्धा **अतिरथ** है। श्लोकपठित महारथ को अतिरथ का भी उपलक्षण समझना चाहिए क्योंकि श्लोक में जिन वीरों के नाम गिनाए गए हैं, उनमें से भीम, अर्जुन, सात्यकि आदि अतिरथी थे।

—३—

———०———

१–(४)

१–अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥

२–भवान्[1], भीष्मश्च[2], कर्णश्च[3], कृपश्च[4], समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा[5], विकर्णश्च[6], सौमदत्तिस्तथैव[7] च ॥ (गीता १।७-८)

३–अन्ये च बहवः शूरा, मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। (गीता १।९)

[**मूलानुवाद**]–हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारी ओर जो श्रेष्ठ योद्धा हैं, उनका भी परिचय प्राप्त कीजिए। मेरी सेना के जो नायक (सञ्चालक) हैं, परिचयार्थ मैं उनके नाम आपको बतलाता हूं। **आप** (द्रोणाचार्य) और **भीष्म, कर्ण** और **कृप** (रणविजेता) **अश्वत्थामा** और **विकर्ण**, साथ ही में **सौमदत्ति** (भूरिश्रवा), इनके अतिरिक्त और भी ऐसे शूर हैं, जिन्होंने मेरे लिए जीवन को हथेली पर रख दिया है। वे सभी विविधशस्त्रों के सञ्चालक एवं युद्धविद्या में पारङ्गत हैं।"

[**भाष्य**]—पाण्डवों के सैन्यव्यूह को, पाण्डव सेना के उन दुर्जय भीमार्जुनादि महारथियों को देखकर यद्यपि दुर्योधन भयभीत है, फिर भी जैसे-तैसे धैर्य बांधने के लिए उद्यत होता हुआ अपने वीरों की गणना करा रहा है, इसी भाव को (परन्तुभाव को) व्यक्त करने के लिए श्लोक में (अस्माकं "तु") "तु" शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे एक भयग्रस्त व्यक्ति **"हमें क्या डर है, हम उनसे कमजोर नहीं हैं"** इस प्रकार के सान्त्वनावाक्य बोला करता है, ठीक वही दशा दुर्योधन की है। क्या द्रोणाचार्य को यह मालूम न था कि सामने अमुक-अमुक नायक खड़े हैं? ऐसी दशा में **"संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते"** दुर्योधन की यह युक्ति अवश्य ही भयभाव को ही सूचित करती है।

विशिष्ट व्यक्तियों की गणना में दुर्योधन पहिले **आचार्य** की ओर ही संकेत करता है। इससे यह (दुर्योधन) आचार्य की खुशामद-सी प्रकट करता है। भला, आप जैसे जब हमारे रक्षक हैं तो फिर हमें किसका भय है, यही प्रकट करता है। दुर्योधन जानता है कि द्रोण अर्जुन के प्रति स्वाभाविक स्नेह रखते हैं। अतः यह (दु०) बार-बार इन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करता दिखलाई देता है। **भीष्म, कर्ण, विकर्ण, भूरिश्रवा, जयद्रथ** इन चारों पर तो दुर्योधन पूर्ण विश्वास करता था। परन्तु वह जानता था कि कृपाचार्य द्रोण के सहचारी हैं एवं अश्वत्थामा उनका पुत्र है। बस द्रोण को प्रसन्न करने के लिए उसे कृप एवं अश्वत्थामा का भी नाम निदश करना

करना पड़ा। **"मदर्थे त्यक्तजीविताः"** से व्यास दुर्योधन के पक्ष का अधर्म्मत्व ही सूचित कर रहे हैं। यह सभी को विदित है कि दुर्योधन ने अधर्म्म से ही तो राज्य प्राप्त किया है एवं अधर्म्म से ही आज युद्ध करने के लिए उपस्थित हुआ है। यदि भीष्मद्रोणादि महारथियों की दृष्टि धर्म्म पर होती, तब तो इन्हें पाण्डुपुत्रों की ओर से युद्ध करना चाहिए था। परन्तु इस समय पाप-पुण्य का कोई प्रश्न नहीं है, केवल नमकहलाली के परिशोध के लिए भीष्मादि दुर्योधन की ओर से युद्ध करने उपस्थित हुए हैं। दुर्योधन परोक्ष-भाषा का प्रयोग करता हुआ द्रोणाचार्य को भी यह सूचित कर रहा है कि आचार्य! आप देख रहे हैं न, इन सब विशिष्ट वीरों ने केवल मेरे लिए, हां, केवल मेरे ही लिए तो अपने प्राणों का मोह छोड दिया है। अभिप्राय इस परोक्षभाषा का यह हुआ कि आपके सामने इस समय धर्म्म-अधर्म्म का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है केवल मेरी रक्षा का। आपने मेरा अन्न खाया है। आप मेरे अन्नग्रह से गृहीत हैं, जिस ग्रह के बन्धन से आप मुक्त नहीं हो सकते (देखिए शत० ४ कां० ग्रहोपनिषत्)। जब तक आप जीवित रहें, केवल **"मदर्थ"** (मेरे हित) को ही लक्ष्य में रक्खें। ऐसा न हो कि धर्म्म-भावना से अथवा अर्जुन पर स्वाभाविक स्नेह होने से आप मेरी रक्षा की ओर से उदासीन हो जायें। साथ ही में **"अन्ये च बहवःशूराः"** इत्यादि से दुर्योधन यह भी सूचित कर रहा है कि यदि आप उपेक्षा कर भी जायेंगे, तब भी मेरी विशेष हानि न होगी। आप देखते हैं (आप जैसे) अनेक शूर मेरे लिए प्राणों की बाजी लगाए खड़े हैं। फिर मुझे भय किसका है? इस प्रकार मधुर-कटु-साम-दामादि उपायों से दुर्योधन आचार्य को उत्तेजित कर रहा है।

—४—

——०——

१–(५)

१–अपर्य्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्य्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥[1]

२–अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥[2]

---

१ गीता १।१०। २ गीता १।११।

[मूलानुवाद]–"सेनापति भीष्म से सुरक्षित हमारा यह बल (सेना) अपरिमित है एवं भीम से सुरक्षित इन (पाण्डवों) का यह बल (सेना) तो परिमित ही है। व्यूहों के सब प्रवेश मार्गों में यथाव्यवस्थित प्रतिष्ठित रहते हुए–आप सब सेनापति भीष्म की ही चारों ओर से रक्षा करें।"

[भाष्य]—श्लोकस्थ अपर्य्याप्त एवं पर्य्याप्त शब्दार्थों के सम्बन्ध में टीकाकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। सुप्रसिद्ध व्याख्याता **मधुसूदन सरस्वती** ने अपर्य्याप्त का अपरिमित एवं पर्य्याप्त का परिमित अर्थ माना है। दुर्योधन कहता है कि—वयोवृद्ध अतएव सुनिपुण भीष्म की अध्यक्षता में प्रतिष्ठित हमारी सेना महाविशाल है। उधर मदोन्मत्त, युवा अतएव चपल भीम से सुरक्षित पाण्डव सेना परिमित है। ऐसी दशा में विजय हमारी निश्चित है।

श्रीधर स्वामी कहते हैं कि पूर्वोक्त विशिष्ट शूरों से युक्त एवं स्वयं भीष्म से सुरक्षित होने पर भी मुझे मेरी सेना युद्ध करने में अपर्य्याप्त (असमर्थ–नाकाफी) ही मालूम हो रही है। उधर पाण्डुसेना भीम से सुरक्षित रहती हुई युद्ध में समर्थ प्रतीत हो रही है। इस प्रकार स्वामीमतानुसार अपर्य्याप्त-पर्य्याप्त का (सूदन) की अपेक्षा ठीक उलटा अर्थ है।

शंकरानन्द स्वामी और ही कुछ अर्थ करते दिखलाई दे रहे हैं। दुर्य्योधन कहता है कि यद्यपि अपनी सेना युद्ध के लिए पर्य्याप्त (समर्थ) नहीं, परन्तु चूँकि भीष्म जैसे योग्य सेनापति इसकी रक्षा कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि अपनी अपर्य्याप्त (असमर्थ) सेना भी महापुरुष भीष्म के बल से पर्य्याप्त (समर्थ) ही है। उधर पाण्डवों की सेना यद्यपि युद्ध के लिए पर्य्याप्त (समर्थ) है तथापि चूँकि उसका सेनानायक भीम जैसा नौसिखिया अनुभवशून्य व्यक्ति है, अतः भीम के आश्रय में रहने वाली यह सेना पर्य्याप्त होती हुई भी अपर्य्याप्त (असमर्थ) ही है।

महाभारत के सुप्रसिद्ध टीकाकार **नीलकण्ठ** कहते हैं– "हमारी सेना ११ अक्षौहिणी है, उधर पाण्डवसेना सात ही अक्षौहिणी है। हमारी सेना का पाण्डुसेना चारों ओर से वेष्टन नहीं कर सकती, इसलिए हमारी सेना अपर्य्याप्त है, (वेष्टन के अयोग्य है) उधर अल्पसंख्यक पाण्डव बल को हमारा बल चारों ओर से घेर सकता है। इस वेष्टन के कारण इनकी सेना पर्य्याप्त है। अर्थात् हमारी सेना अपारणीय है, इनकी सेना पारणीय है।

इन अनेक मतवादों को देखने से स्वतः ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन-सा पक्ष प्रामाणिक माना जाय ? हमारी दृष्टि में तो मधुसूदन-स्वामी का पक्ष ही ठीक जँचता है। स्वर्गीय **बालगंगाधर तिलक** ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है। दुर्य्योधन डर रहा है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु साथ ही में उसे अपनी विशाल सेना और भीष्म जैसे सफल सेना-नायक की योग्यता पर भी पूरा भरोसा है। दुर्योधन के भयसमर्थन के लिए जिन व्याख्याताओं ने अपर्य्याप्त का कम, पर्य्याप्त का समर्थ अर्थ किया है, व्याख्याताओं का वह काम तो विशाल सीमित मानने से भो चल जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि महाभारत युद्ध-प्रसङ्ग में कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से दुर्योधन ने अपना भय प्रकट नहीं किया है। अपितु समय-समय पर उसने—

१—न भेतव्यं महाराज ! न शोच्या भवता वयम् ।
समर्थाः स्म पराजेतुं बलिनः समरे विभो ॥[1]

इत्यादि रूप से अपनी निर्भयता ही प्रकट की है। फिर भी बुद्धिमान् दुर्योधन अन्तःकरण में अवश्य ही अनुभव करता था कि मेरी सेना के द्रोण भीष्मादि कतिपय श्रेष्ठ वीर भीतर से पाण्डुपुत्रों का ही कल्याण चाहते हैं। संजय और धृतराष्ट्र के संवादों पर आप दृष्टि डालेंगे तो विदित होगा कि धृतराष्ट्र स्वयं बडे भयभीत थे। उन्हें शान्त करने के लिए ही दुर्योधन अभयवाणी बोला करता था। दुर्योधन के भयभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि पाण्डवों की ओर से कोई किसी के पास जाकर इस प्रकार बातें नहीं बघारता है। दुर्योधन ही कभी सेनानायकों की गणना करता है, कभी कहता है मेरी सेना भी बडी है, भीष्म जैसा सेनापति भी मेरे पृष्ठ पर खड़े हैं। ऐसी अवस्था में मुझे भय किसका है ? दुर्योधन के ऐसे वाक्य ही तो इसके छुपे हुए भय को प्रकट कर रहे हैं। यह गुप्त भय ही तो इसके पराजय का कारण बना है। डरा हुआ व्यक्ति ही उत्साह वाक्यों से अपना डर कम करने की चेष्टा किया करता है। बोलता है दुर्योधन उत्साह के वाक्य, परन्तु प्रतिध्वनि निकल रही है—अनुत्साह की। आत्मोत्साह जहां विजय का मुख्य कारण है, वहां उत्साहमान्द्य पराजय का मूल कारण है। अर्जुन में भी थोडी देर के लिए इसी प्रकार उत्साह-मान्द्य का उदय हुआ था। परन्तु ध्यान रहे—दोनों की मन्दता में अहोरात्र का अन्तर है। दुर्योधन का

१ महा० भा० उद्योगपर्व० ५५।१ ।

मन्दभाव निर्बलता को लिए हुए है, अर्जुन का मन्दभाव रागमूलक है। अर्जुन कभी आत्मदृष्टचा निर्बल नहीं है। उसे राज्य से द्वेष है, स्वजनों से राग है। इधर आत्मबलशून्य दुर्योधन को राज्य से राग है, स्वजनों से द्वेष है। इन दोनों विरुद्धभावों के प्रदर्शन के लिए ही तो अर्जुन की उत्साह-मन्दता के साथ-साथ गीता में दुर्योधनकृतमन्दता का समावेश किया गया है। व्यास कह रहे हैं कि एक ओर दुर्योधन है, जो राज्य से राग, बन्धुओं से द्वेष कर रहा है। एक ओर अर्जुन को देखो—जो राज्य से द्वेष एवं बन्धुओं से राग कर रहा है। एक आत्मोत्साह की प्रतिमा बना हुआ है, दूसरा प्रभूत युद्धसामग्री के रहते भी उत्साहवाक्यों से अपना भय हटाने की चेष्टा करता हुआ अनुत्साह सूचित कर रहा है।

अस्तु, दुर्योधन द्रोण से बातचीत कर रहे हैं। प्रकृत वचन से दुर्योधन का अभिप्राय यही है कि अच्छा आप पाण्डवों का ही हित चाहते रहें। मेरी इसमें कोई हानि नहीं है। आपको स्मरण रखना चाहिए कि मेरी सेना पाण्डुसेना की अपेक्षा विशाल है। साथ ही में भीष्म जैसे मेरी सेना के सेनापति हैं। मैं आपसे केवल यही चाहता हूं कि आप केवल भीष्म की रक्षा करें। दुर्योधन कहना चाहता है कि केवल भीष्म ही विजय में समर्थ हैं। आप जो थोडी-सी शक्ति खर्च करना चाहते हैं, वह भीष्म की रक्षा में ही खर्च कर देना। पाठक इन सब भावों को हमारी कल्पना ही समझते होंगे। परन्तु युद्ध-प्रसंगों के क्रमिक अध्ययन से उन्हें मान लेना पड़ेगा कि दुर्योधन आचार्य पर प्रायः अविश्वास ही करता था। एक बार तो दुर्योधन ने द्रोण के सेनापत्यकाल में स्पष्ट ही अपने पूर्वोक्त उद्‌गार प्रकट कर दिये थे। उसी क्षोभ से क्षुब्ध आचार्य ने चक्रव्यूहरचना द्वारा अभिमन्यु का वध करवा के विश्वस्त होने का परिचय दिया था।

—५—

———०———

२—(१)

१—तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥[1]

---

१ गीता १।१२।

२–ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।[1]

३–ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।।[2]

४–पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्म्मा वृकोदरः ।।[3]

५–अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।[4]

६–काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।।[5]

७–द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक्-पृथक् ।।[6]

८–स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।[7]

[मूलानुवाद]–"(इसी अवसर पर) कुरुवंशियों में वृद्ध, प्रतापशाली बाबा भीष्म ने दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंहनाद करते हुए शङ्ख बजाया ।।१।। (सेनापति के सिंहनादपूर्वक शंख बजाते ही) एकदम चारों ओर से (दुर्योधन की सेना में) [8]शंख, भेरी, पणवानक, गोमुख आदि बज पड़े । इन सबके मेल से (उस समय युद्धभूमि में) वह शब्द चारों ओर

१ गीता १।१३ । २ गीता १।१४ । ३ गीता १।१५ । ४ गीता १।१६ ।
५ गीता १।१७ । ६ गीता १।१८ । ७ गीता १।१९ ।
८ शंख प्रसिद्ध है । भेरी नगाड़ा है । पणवानक ढोल है । गोमुख डफ है ।

गूंज उठा ।।२।। (उस तुमुल ध्वनि के बीच में ही) सफेद घोड़ों से युक्त विशाल रथ में प्रतिष्ठित माधव (कृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) दोनों ने अपने दैवी शङ्ख बजाये ।।३।। हृषीकेश (कृष्ण) ने पाञ्चजन्य नामक, धनंजय (अर्जुन) ने देवदत्त नामक, भयङ्कर कर्म्म करने वाले वृकोदर ने (भीम) पौंड् नामक विशाल शङ्ख बजाया ।।४।। कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त-विजय नामक एवं नकुल और सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणि-पुष्पक नामक शंख बजाये ।।५।। (इसी प्रकार) महाधनुर्द्धर काशी राज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट्, युद्ध में अजेय सात्यकि ।।६।। द्रुपद, द्रौपदी के पांचों पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु, हे भूमिपाल ! (धृतराष्ट्र) इन सब (योद्धाओं ने) अपने-अपने शङ्ख एक साथ बजाये ।।७।। उस (जय) घोष ने (तुमुल-शब्द ने) आपके अनुयायियों का हृदय विदीर्ण कर दिया। साथ ही में वह तुमुलघोष पृथिवी-आकाश को विदीर्ण करता हुआ (त्रैलोक्य में) व्याप्त हो गया" ।।८।।

—०—

[भाष्य]—दुर्योधन को आचार्य से बातचीत करते देखकर सेनापति भीष्म समझ गये कि दुर्योधन अवश्य ही भयभीत हो रहा है। एक सफल सेनापति के रहते हुए राजा भयभीत हो, यह सेनापति की ही दुर्बलता है। सचमुच दुर्योधन बडा ही राजनीतिज्ञ है। भीष्म के पास न जाकर द्रोण के पास जाता है, इससे तो वह द्रोण का उत्साहवर्द्धन कर रहा है। साथ ही में अपने इस भाव से भीष्म पर यह प्रकट करना चाहता है कि देखिए ! आज मैं द्रोणादि की खुशामद कर रहा हूँ। भला आपके रहते मुझे इस प्रकार इधर से उधर दौड़ना पड़े। क्या यह ठीक है ? इस प्रकार भीष्म के प्रति यह ब्याज से अपना कातर भाव प्रकट करता हुआ, स्वयं तटस्थ रहता हुआ भीष्म का भी अनुग्रह प्राप्त कर रहा है। इसी अनुग्रह का यह फल था कि उधर दुर्योधन को द्रोण के पास भीष्म ने बातचीत करते देखा, साथ

ही में चतुर दुर्योधन की भावभङ्गियों से उन्हें ऐसा भी प्रतीत हुआ कि दुर्योधन डरा हुआ सा है, तत्काल उसका भय दूर करते हुए सिंहनादपूर्वक शंख बजा डाला। भीष्म ने देखा कि दुर्योधन ने द्रोण से इतनी देर प्रार्थनामय बातचीत की, परन्तु द्रोण ने कोई उत्तर न दिया। उधर दुर्योधन की— **"अयनेषु च सर्वेषु-भीष्ममेवाभिरक्षन्तु"** इस उक्ति से भीष्म ने यह भी देखा कि दुर्योधन को मेरा बडा विश्वास है, तभी तो वह **"अपर्याप्तंतदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्"** यह कह रहा है। बस इन्हीं सारी परिस्थितियों को उस कुरुवृद्ध ने जाना। आखिर वह पितामह था, बाबा था। संभव है द्रोण उपेक्षा भी कर जाय, परन्तु एक पितामह से पौत्र की ऐसी करुण दशा नहीं देखी जा सकती। फलतः भयनिवृत्यर्थ तत्काल उन्होंने शंख बजा ही तो दिया। सचमुच इस शंखनाद से एक बार तो दुर्योधन का सारा भय हट ही गया होगा ॥१॥ प्रधान सेनापति के शंखनाद के अनन्तर सेना के और और प्रमुख योद्धाओं ने युद्ध के उत्तेजक विविध प्रकार के वाद्य बजाये। इस तुमुल शब्द से एक बार तो दुर्योधन का हृत्कमल अवश्य ही खिल गया होगा ॥२॥

जब कौरव सेना की ओर शंखनाद हो चुका तो पाण्डवों की ओर से नाद का उपक्रम हुआ। इस पूर्वापरभाव का अर्थ यही है कि पाण्डव कभी युद्ध नहीं करना चाहते थे। दुर्योधन स्वयं युद्ध का बीज था। फलतः पहिले उसी दल की ओर से युद्धारम्भसूचक शङ्ख-ध्वनि होना न्याय प्राप्य था। शत्रुपक्ष की शंख-ध्वनि का जवाब देते हुए कृष्णार्जुन ने सर्वप्रथम शङ्खनाद किया। सभी महारथी योद्धा रथों में बैठे थे। परन्तु अर्जुन का रथ दैवीरथ था। अग्नि प्रदत्तरथ वास्तव में सामान्य रथ नहीं हो सकता। सभी के रथों में तो सारथी थे। परन्तु कृष्ण का सारथित्व एक अपूर्व घटना थी। विजयी योद्धा की कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है। क्षत्रियों ने कीर्ति का वर्ण शुक्ल माना है। सफेद घोड़े, पाण्डव (शुक्ल वर्ण) अर्जुन, अच्युतकीर्ति माधव, देवताओं से प्रदत्त देवदत्त शङ्ख ये सब पाण्डुपक्ष के विजय के ही द्योतक हैं। युधिष्ठिर को अभी राज्य नहीं मिला है। फिर भी व्यासदेव उसे राजा शब्द से सम्बोधित करते हुए, साथ ही अनन्त-विजय नामक शंख द्वारा इसी की विजय सूचित कर रहे हैं। व्यासदेव ने **"पृथिवीपते"** से धृतराष्ट्र को सूचित किया है कि जरा सावधान होकर उक्त वीरों एवं उनकी शंख-ध्वनियों को सुनो। तुम्हें मालूम हो जायगा कि विजयश्री किसका वरण करेगी। धृतराष्ट्रपक्ष की ध्वनि से तो पाण्डवपक्ष कम्पित

न हुआ, परन्तु पाण्डवों की शंखध्वनियों से धार्तराष्ट्रलोग कम्पित हो गये । इस पक्ष के लिए इससे अधिक और क्या अपशकुन होगा ?

॥३–८॥

—१—

—०—

२–(२)

१–अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥[1]

२–हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच–

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥[2]

३–यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥[3]

४–योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥[4]

[मूलानुवाद]–"(जयघोष के) अनन्तर धृतराष्ट्र के अनुयायी योद्धाओं को शान्त, सुव्यवस्थित देखकर शस्त्रप्रहारव्यापार का आरम्भ होता देखकर अपना धनुष तानकर, हे महीपाल ! (धृतराष्ट्र) कपिध्वज अर्जुन ने हृषीकेश से निम्नलिखित वचन कहे—

अर्जुन बोला–

हे अच्युत (कृष्ण) ! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए । मैं इतने समय में (युद्धारम्भ से पहिले

---

१ गीता १।२० २ गीता १।२१ ३ गीता १।२२ ४ गीता १।२३

पहले) लड़ने की इच्छा से (युद्ध भूमि में) प्रतिष्ठित (योद्धाओं को) देख लेता हूँ। (मुझे देखना यह है कि) इस संग्राम में मुझे किन-किन से लड़ना है। धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि (दुर्योधन) का हित साधन करने की इच्छा रखने वाले जो (योद्धा) यहाँ (संग्राम में) सम्मिलित हुए हैं, उन्हें मैं (एक बार) देख लूँ।"

[भाष्य]—पाण्डव सेना ने शङ्खनाद क्या किया, कौरव सेना के लिए आफत खड़ी कर दी। एक प्रकार से वहाँ तो भगदड़ मच गई। सब के कलेजे काँप गये। जैसे-तैसे यौद्धाओं ने कलेजा थामा। भगदड़ मिटी। पुनः यथास्थान कौरव प्रतिष्ठित हुए। भला नादमात्र से इस प्रकार अव्यवस्थित हो जाने वाली सेना से भी कभी विजय की आशा की जा सकती है? उधर पाण्डुपक्ष को देखिए। कितना धैर्य है? बस शत्रुपक्ष की इसी नीति एवं पाण्डुपक्ष की इसी दृढ़ता का स्पष्टीकरण करने के उद्देश्य से व्यास ने—**"अथ व्यवस्थितान्"** इत्यादि कहा है। जो अर्जुन साक्षात् अच्युत भगवान् को अपने वश में किये हुए है, उसे युद्ध से कौन च्युत कर सकता है? उसकी स्वतःसिद्ध विजयश्री को कौन छीन सकता है? साथ ही में उसे यह भी विश्वास है कि जब मेरे पक्ष में धर्म्ममूर्त्ति साक्षात् भगवान् हैं तो फिर मुझे डर किस का है? अर्जुन के **"सेनयोरुभयोः"** इत्यादि का अभिप्राय यही है कि जरा मैं देखूँ तो सही, उस पापी दुर्बुद्धि दुर्योधन की मदद के लिए कौन वीर मेरे सामने आया है? क्या आपके सामने भी कोई पापात्मा युद्ध करके विजय की इच्छा रख सकता है? (१–४)॥

—०—

२–(३)

संजय उवाच–

१–एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥[1]

२–भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥[2]

---

१ गीता १।२४ २ गीता १।२५

[मूलानुवाद]–"हे भारत ! (धृतराष्ट्रा) निद्रा को वश में रखने वाले अर्जुन से इस प्रकार सम्बोधित, इन्द्रियों को वश में रखने वाले श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के बीच में उस उत्तम रथ को खड़ा करते हुए, भीष्म-द्रोणादि के सम्मुख एवं सब राजाओं के समक्ष कहने लगे कि हे पार्थ ! युद्ध के लिए इकट्ठे हुए इन कुरुओं को तू देख !"

३–(१)

१–तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।।[1]

२–तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।[2]

[मूलानुवाद] – "उन दोनों सेनाओं में प्रतिष्ठित पिता, पितामह, गुरु, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर, मित्रों को अर्जुन ने देखा । इस प्रकार (युद्ध में) प्रतिष्ठित उन सब बन्धुओं को देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन स्वाभाविक कृपा से युक्त होता हुआ, दुःखितमना होकर निम्नलिखित वचन बोला"—

३–(२)

अर्जुन उवाच –

१–दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।[3]

२–सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे में रोमहर्षश्च जायते ।।[4]

१ गीता १।२६ २ गीता १।२७ ३ गीता १।२८
४ गीता १।२९

३–गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।[१]

४–निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।[२]

५–न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा ।।[3]

६–येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।[४]

७–आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।[५]

८–एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।[६]

९–निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।।[७]

१०–तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।[८]

[मूलानुवाद] – "हे कृष्ण ! इस युद्धेच्छु बन्धुवर्ग को देख कर मेरे अंग-अंग शिथिल हो रहे हैं । मुँह सूखा जा रहा है । शरीर में कम्पन हो रहा है । रोमाञ्च उठ रहे हैं । गांडीव हाथ से छूटा जा रहा है । शरीर जल रहा है । मैं (अब) खड़े

---

१ गीता १।३०   २ गीता १।३१   ३ गीता १।३२
४ गीता १।३३   ५ गीता १।३४   ६ गीता १।३५
७ गीता १।३६   ८ गीता १।३७

रहने में भी असमर्थ हूँ। मेरा मन डांवाडोल हो रहा है। हे केशव ! मैं सारी बातें उलटी ही देख रहा हूँ। युद्ध में स्वजनवर्ग को मारकर मैं अपना कोई कल्याण नहीं देखता। हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता, सुख नहीं चाहता। हे गोविन्द ! (ऐसे) राज्य, भोग, जीवन से मेरा क्या लाभ होगा ? जिनके लिए हमें राज्य चाहिए, भोग चाहिए, सुख चाहिए, वे सब तो इस युद्ध में अपने प्राणों का, धन का मोह छोडकर उपस्थित हैं। गुरु–काका–पुत्र–बाबा–मामा–ससुर–पोते–साले–समधी (आदि सभी तो मरने के लिए उपस्थित हैं)। हे मधुसूदन ! मैं स्वयं मार डाला जाता हुआ भी इन्हें मारने की इच्छा नहीं रखता। यदि त्रैलोक्य का राज्य मिल जाय, तब भी मैं इन्हें न मारूं फिर इस जरा से जमीन के टुकड़े की तो बात ही क्या है ? हे जनार्दन ! इन कौरवों को मारकर हम अपनी क्या भलाई करेंगे ? (मेरे विचार से तो) इन आततायियों को मारकर हम पाप के ही भागी बनेंगे। इसलिए हम इन कौरवों को, अपने बान्धवों को कभी न मारेंगे। हे माधव ! भला स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?"

[भाष्य]—अर्जुन को पाप-पुण्य का ज्ञान न था–यह तो नहीं कहा जा सकता। फिर अर्जुन ने धर्म्मशास्त्रोक्त क्षात्रधर्म्मजनित हिंसा को पाप का कारण कैसे मान लिया ? यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसकी सङ्गति इस रूप से लगाई जा सकती है। लगाई जा सकती है, ये अक्षर इसलिए कहने पड़ते हैं कि वस्तुतः इस सङ्गति में कोई सार नहीं है, जैसा कि भगवान् द्वितीयाध्याय में खण्डन करने वाले हैं।

१–अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥[1]

---

१ महा० नीलकंठी टीका भीष्मपर्व २५।३६

२–आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।।[1]

इत्यादि वचनों के अनुसार यद्यपि आततायी को मार डालना ही उत्तम है। तथापि यह आततायिवध अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। उधर **"न हिंस्यात् सर्वभूतानि"** इत्यादि वाक्य धर्म्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। साथ ही में आप्तपुरुषों का यह भी निर्णय है कि अर्थ-धर्म्म का जहाँ विरोध हो, वहाँ धर्म्मवचन को ही प्रमाण मानना चाहिए, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्म्मशास्त्रमिति स्थितिः ।।[2]

बस यही समझते हुए अर्जून इस युद्ध को पाप का कारण मान लिया है।

—०—

३–(३)

१–यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।[3]

२–कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निर्वर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।[4]

३–कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ।
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्म्मोऽभिभवत्युत ।।[5]

४–अधर्म्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ।।[6]

---

१ म० नीलकंठी टी० भीष्मपर्व २५।३६ २ म० नीलकंठी टी० भीष्मपर्व २५।३६
३ गीता १।३८ ४ गीता १।३९ ५ गीता १।४० ६ गीता १।४१

५-संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।[1]

६-दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः ।।[2]

७-उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।[3]

❀(१) ८-अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।[4]

९-यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।[5]

सञ्जय उवाच—

❀(१)१०-"एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः" ।।[6]

[मूलानुवाद] – "लोभवश नष्टबुद्धि बने हुए यद्यपि ये लोग कुल के नाश से होने वाले दोष एवं मित्रद्रोह पर होने वाले पाप को नहीं देख रहे हैं, तथापि इस पाप से बचने के लिए,

---

१ गीता १।४२ २ गीता १।४३ ३ गीता १।४४
४ गीता १।४५ ५ गीता १।४६ ६ गीता १।४७

❀ "अहोबत महत्पापं—"एवमुक्त्वार्जुनः" ये दो श्लोक इतिहास-प्रकरण से सम्बन्ध न रखकर विज्ञान-प्रकरण से सम्बन्ध रखते हैं। इसीलिए इन दोनों का आगे के विज्ञान-प्रकरण में भी समावेश किया गया है, जैसा कि वहाँ स्पष्ट हो जायगा ।

साथ ही में कुलक्षय से होने वाले दोष को प्रत्यक्ष देखते हुए (इस दोष से भी बचने के लिए) हम कैसे इसे न समझें ? अर्थात् जानते हुए भी हम कैसे इस पाप के भागी बनें ? कुल के नष्ट हो जाने पर सदा से चले आने वाले (कुलरक्षक) कुलधर्म्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म्म के नष्ट हो जाने पर (वह) सम्पूर्ण कुल अधर्म्म से युक्त हो जाता है। अधर्म्म के फैल जाने से हे कृष्ण ! कुल स्त्रियाँ (औपपत्य सम्बन्ध से) दूषित हो जाती हैं। ऐसी दूषित स्त्रियों (स्त्रियों के गर्भ) में वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती हैं। संकर सन्तान उन कुलघातियों के एवं उस कुल के नरक प्राप्ति का ही कारण बनती है। (न केवल कुल एवं कुलघातियों का ही अपकार होता है अपितु) इन कुलघातियों के कुल के, साथ ही में संकर सन्तान के पितर-पिण्ड-उदक (श्राद्धान्न-जलाञ्जलि) से वञ्चित होते हुए स्वलोक (पितृलोक) से पतित हो जाते हैं। (इस प्रकार) वर्णसंकरसृष्टि के प्रवर्त्तक इन कुल-घातियों के इन (पूर्वोक्त) दोषों से चिरकाल से चले आने वाले जातिधर्म्म एवं कुलधर्म उच्छिन्न हो जाते हैं। हे जनार्दन ! जिन कुलों का धर्म्म नष्ट हो गया है—उन कुलों के मनुष्यों का सदा नरक में ही निवास रहता है—यह सब (आप जैसे ही आप्त-पुरुषों से) सुनते आ रहे हैं। हाय ! हाय !! भला कहो तो सही, आज हम यह बडा भारी पाप करने के लिए तय्यार हो रहे हैं, जोकि राज्यसुख के लोभ से अपने बन्धुओं को मारने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। यदि अपने बचाव की कोई कोशिश न करते हुए, शस्त्र धारण न किये हुए ऐसे मुझे, शस्त्र हाथ में लेने वाले कौरव लोग मार डालें तो बड़ा उत्तम हो।

संजय बोले—

ऐसा कहकर उस संग्राम (भूमि) में तूणीरसहित धनुष को छोडकर शोक से अत्यन्तखिन्न बनता हुआ अर्जुन रथ के धरातल पर बैठ गया ।"

—०—

॥ इति ऐतिहासिकप्रसङ्गः समाप्तः ॥

॥ इति गीतायाः प्रथम ऐतिहासिकोऽध्यायः ॥

१
